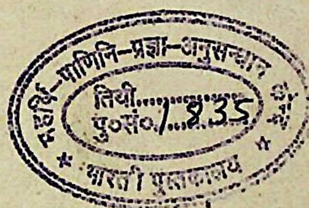
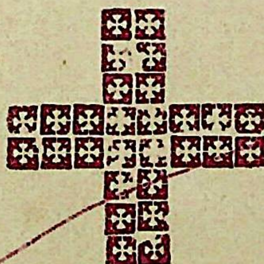
मनुस्मृतिः

(द्वितीयोऽध्यायः)

S.2





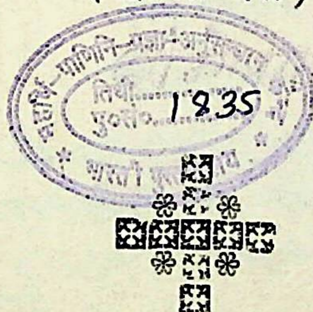
प्रो० वीरेन्द्र कुमार वर्मा

डॉ० जमुना पाठक

सप्रेम भेंट
— लेखक

मनुस्मृतिः

(द्वितीयोऽध्यायः)



प्रो० वीरेन्द्र कुमार वर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०, वेदाचार्य

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

तथा

डॉ० जमुना पाठक

एम० ए०, पी-एच० डी०

संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

१९८०] [वाराणसी

प्रकाशक :—
जमुना पाठक
सुन्दरपुर, वाराणसी

❀

द्वितीय संस्करण
मूल्य ३.००

❀

मुद्रक :—
आचार्य-बन्धु मुद्रणालय ए १/१२ गायघाट, मछोदरी, वाराणसी।

मनुस्मृतिः

द्वितीयोऽध्यायः

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

अन्वयः—अद्वेषरागिभिः सद्भिः विद्वद्भिः नित्यं सेवितः हृदयेन अभ्यनुज्ञातः यः धर्मः तं निबोधत ।

शब्दार्थः—सद्भिः = सज्जनों के द्वारा । अभ्यनुज्ञातः = अच्छी तरह जाना गया । निबोधत = जानो, सुनो ।

अनुवाद—(धर्म का सामान्य स्वरूप)—रागद्वेषरहित सज्जन विद्वानों के द्वारा निरन्तर सेवन किया गया और हृदय से अच्छी तरह जाना गया जो धर्म है, उसे (आप लोग) जानें (सुनें) ।

विशेष—(१) शुद्ध अन्तःकरण से अपने कर्तव्य के रूप में निश्चित करके जिसको सज्जन पुरुषों ने अपने जीवन में अपनाया है वही धर्म है । कहा भी गया है—'महाजनो येन गतः सः पन्थाः' । (२) भगवान् मनु से प्राप्त करके (सुनकर) भृगु मुनि ने इस मनुस्मृति को बनाया है तथा उन्होंने ही प्रस्तुत रूप में इसे महर्षियों को सुनाया है ।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

अ०—कामात्मना न प्रशस्ता, इह अकामता च एव न अस्ति, हि वेदाधिगमः वैदिकः कर्मयोगः च काम्यः ।

श०—कामात्मता = कर्म फल की इच्छा । न प्रशस्ता = प्रशंसनीय नहीं है । वेदाधिगमः = वेद की प्राप्ति, वेद का अध्ययन । काम्यः=इच्छा का विषय ।

अनु०—(कर्म-फल की इच्छा)—कर्म-फल की इच्छा प्रशंसनीय नहीं है (अर्थात् फल की इच्छा से कर्म करना उचित नहीं है), किन्तु यहाँ (=इस संसार में) इच्छा का अभाव (परित्याग) भी नहीं है क्योंकि वेद का अध्ययन और वैदिक कर्मों का अनुष्ठान भी इच्छा का विषय है।

विशेष—तात्पर्य यह है कि फल की इच्छा का सर्वथा परित्याग अभीष्ट नहीं है। फल की इच्छा न करने पर कोई वेद का अध्ययन नहीं करेगा, वैदिक कर्मों का अनुष्ठान नहीं करेगा। विना फल की इच्छा के लोगों की कर्म में प्रवृत्ति नही होती है। फल प्राप्त करने के लिए ही लोग विभिन्न लौकिक और वैदिक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

श०—कामः = इच्छा, सङ्कल्पमूलः=सङ्कल्प है मूल (जड़) जिसका वह अर्थात् सङ्कल्प जड़ वाला, सङ्कल्प से उत्पन्न। सङ्कल्पसम्भवा = सङ्कल्प से उत्पन्न।

अनु०—(इच्छा आदि की सङ्कल्पमूलकता)—इच्छा सङ्कल्प-मूलक (इच्छा का मूल सङ्कल्प) है; यज्ञ सङ्कल्पों से उत्पन्न होते हैं; सभी व्रत, नियम और धर्म सङ्कल्प से ही उत्पन्न कहे गये हैं। (अमुक कार्य करने से अमुक इष्ट फल की प्राप्ति होती है—इस प्रकार का निश्चय सङ्कल्प है)।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

अ०—इह अकामस्य काचित् क्रिया कर्हिचित् न दृश्यते। हि यत् यत् किञ्चित् कुरुते तत् तत् कामस्य चेष्टितम्।

अनु०—(क्रिया की कामसापेक्षता)-यहाँ (=इस संसार में इच्छा के बिना किसी मनुष्य का कोई भी कार्य कभी दिखलाई नहीं पड़ता है। (वह) जो कुछ भी करता है वह सब इच्छा की चेष्टा है (इच्छा के द्वारा ही मनुष्य सब कार्य करता है)।

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथासंकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान् समश्नुते ॥ ५ ॥

अ०—तेषु सम्यक् वर्तमानः अमरलोकतां गच्छति इह च यथा संकल्पितान् सर्वान् कामान् समश्नुते ।

श०—यथा सङ्कल्पितान् = मनोकामना के अनुसार। कामान्=कामनाओं को, अभिलषित पदार्थों को ।

अनु०—उन (शास्त्रोक्त कर्मों) में अच्छी प्रकार से लगा हुआ (पुरुष) देवलोक (स्वर्गलोक) को जाता है और (यहाँ इस संसार में) अपनी मनोकामना के अनुसार सभी अभिलषित पदार्थों को प्राप्त करता है ।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

अनु०—(धर्म के प्रमाण)—समस्त (अखिल) वेद, उन (वेदों) के जानने वाले (तत् विदाम्) (मनु आदि) की स्मृति और (रागद्वेषरहित उनका) स्वभाव (शील), सज्जनों का आचरण तथा आत्म-संतोष (अर्थात् किसी विषय में विकल्पात्मक विधान होने पर अपने को अच्छा लगने वाला) ये धर्म के मूल हैं (अर्थात् धर्म के विषय में ये प्रमाण हैं)

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

अनु०—(धर्म की वेदमूलकता)—मनु के द्वारा जिस किसी (ब्राह्मण आदि) का जो धर्म (अपनी स्मृति में) बतलाया गया है (परिकीर्तितः), वह सब वेद में (वेदे) कहा गया है (अभिहितः), क्योंकि वह (वेद) सभी ज्ञानों का हेतु (अथवा निधि) है ।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

अनु०—(कर्तव्य धर्म का निर्णय)—इस सबको ज्ञानरूपी नेत्रों से अच्छी प्रकार देखकर (अर्थात् व्याकरण, निरुक्त, मीमांसा आदि के ज्ञानरूपी नेत्रों से सम्पूर्ण शास्त्र पर भलीभाँति विचार करके) विद्वान् को वेद के प्रमाण से अपने धर्म में स्थित (संलग्न) हो जाना चाहिए। (अर्थात् वेद को प्रमाण मानकर अपने धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए)।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

अनु०—(धर्म के अनुष्ठान का फल)—वेद (श्रुति) और स्मृतियों में कहे गये धर्म का अनुष्ठान (पालन) करता हुआ (अनुतिष्ठन्) मनुष्य यहाँ (इस लोक में) यश (कीर्ति) प्राप्त करता है तथा मर कर (प्रेत्य) सर्वश्रेष्ठ (अनुत्तमं) सुख को प्राप्त करता है (अत एव वेद और स्मृतियों में कहे गये धर्म का पालन करना चाहिए)।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥

अनु०—(श्रुति और स्मृति का परिचय)—(ऋग्वेद आदि) वेद को श्रुति और (मनु आदि के द्वारा उक्त) धर्मशास्त्र को स्मृति जानना चाहिए। वे दोनों सभी विषयों में प्रतिकूल तर्क के योग्य नहीं है (अर्थात प्रतिकूल तर्क के द्वारा श्रुति और स्मृतियों के किसी भी विषय का खण्डन नहीं करना चाहिये) क्योंकि उन दोनों (श्रुति और स्मृति) से ही धर्म निकला है (उत्पन्न हुआ है, प्रादुर्भूत हुआ है)।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

अनु०—(नास्तिक की निन्दा)—जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) तर्कशास्त्र (हेतुशास्त्र) के आश्रय से (अर्थात् कुतर्क का आश्रय लेकर) (धर्म के) उन दो मूलों (हेतुओं) (अर्थात् धर्म के हेतुभूत श्रुति और स्मृति) का

अपमान (खण्डन) करता है, वह वेदनिन्दक नास्तिक सज्जनों (शिष्टजनों) के द्वारा (अध्ययन, अध्यापन, याग आदि कार्य से तथा समाज से) बहिष्कृत करने योग्य है।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

अनु०—(धर्म का साक्षात् लक्षण)—वेद, स्मृति, सदाचार (सज्जनों का आचरण) और (किसी विषय में कई विकल्पात्मक विधान होने पर) अपनी आत्मा को (अपने मन को, अपने आप को) अच्छा लगने वाला—(आचार्य लोग) यह चार प्रकार का धर्म का प्रत्यक्ष (साक्षात्) लक्षण बतलाते हैं।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अनु०—(श्रुति का परम प्रामाण्य)—अर्थ और काम में जो लोग आसक्त नहीं हैं उनके लिये धर्मज्ञान का (धर्म को जानने का) उपदेश (विधान) किया जाता है तथा धर्म को जानने की इच्छा करने वाले लोगों के लिए वेद परम (उत्तम, सर्वाधिक मुख्य) प्रमाण है।

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

अनु०—(श्रुतिद्वय के विरोध में दोनों की प्रामाणिकता)—जहां पर दो श्रुतिवाक्यों (वेद वाक्यों, वेदवचनों) का परस्पर (= एक दूसरे से) विरोध हो, वहाँ दोनों (श्रुतिवाक्य) (मनु के द्वारा) धर्म माने गये हैं; क्योंकि (मनु से पूर्ववर्ती) विद्वानों के द्वारा दोनों ही (परस्पर विरुद्ध श्रुतिवाक्य) समीचीन (ठीक, उत्तम) धर्म कहे गये हैं (परस्परविरुद्ध विधान होने पर विकल्प होता है। उनमें से किसी का भी अपनी इच्छा से ग्रहण किया जा सकता है)।

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

अनु०—(श्रुतिवाक्यों के विरोध का उदाहरण)–सूर्य का उदय होने पर (उदिते), सूर्य का उदय नहीं होने पर (अनुदिते) और उसी प्रकार सूर्य-नक्षत्ररहित काल में (समयाध्युषिते) सब प्रकार का यज्ञ (अग्निहोत्र होम) होता है—यह वैदिक श्रुति है।

विशेष—(१) सूर्योदय से पहले जब पूर्व दिशा लालिमा से युक्त हो जाती है तथा कहीं कहीं थोड़े-से तारे भी दिखलाई पड़ते हैं वह 'अनुदित' काल है। जब न तो सूर्योदय ही हुआ हो और न तारे ही दिखलाई पड़ते हैं वह 'समयाध्युषित' काल है। (२) 'उदिते होतव्यम्', 'अनुदिते होतव्यम्', 'समयाध्युषिते होतव्यम्', ये तीनों वैदिक श्रुतियाँ हैं। इस प्रकार विरोध दृष्टिगोचर होने पर विकल्प समझना चाहिए। इन तीनों कालों में से किसी भी काल में अग्नि-होत्र होम करना चाहिए।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

अनु०—(धर्मशास्त्र का अधिकारी)–जिस (द्विज = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की गर्भाधान संस्कार (निषेक) से लेकर अन्त्येष्टि (मृत्यु) संस्कार तक की विधि (वैदिक) मन्त्रों से करने के लिए कही गई है (उदितः), उसी (द्विज) का इस शास्त्र (के अध्ययन) में अधिकार जानना चाहिये, अन्य (शूद्र आदि) का नहीं।

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

अनु०—(ब्रह्मावर्त देश)–सरस्वती और दृषद्वती-इन दो देवनदियों के मध्य का देश, जिसको देवताओं ने बनाया हैं, उसको (आचार्य लोग) ब्रह्मावर्त कहते हैं।

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

अनु०—(सदाचार का लक्षण)–उस (ब्रह्मावर्त्त) देश में (ब्राह्मण आदि) वर्णों तथा रथकार इत्यादि वर्णसङ्करों का कुलपरम्परागत (=परम्परा से चला आ रहा) जो आचार है वही सदाचार कहा जाता है ।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

अनु०—(ब्रह्मर्षि देश)-कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल तथा शूरसेन यह ब्रह्मर्षि देश (कहा जाता है) । यह ब्रह्मावर्त्त से बाद में हैं (अर्थात् ब्रह्मावर्त से कुछ न्यून माना जाता है) ।

वि०—देवताओं की अपेक्षा महर्षि न्यून होते हैं । अतः देवनिर्मित ब्रह्मावर्त की अपेक्षा ब्रह्मर्षियों से सम्बद्ध ब्रह्मर्षिदेश का न्यून होना स्वाभाविक ही है ।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

अनु०—(इन देशों के ब्राह्मणों से आचार शिक्षा ग्रहण करने का उपदेश)–इन देशों में उत्पन्न ब्राह्मणों से (अग्रजन्मनः) पृथ्वी पर सब मनुष्य अपना अपना आचार (चरित्र) सीखें (इन देशों में रहने वाले ब्राह्मण जैसा आचरण करते हैं वैसा ही आचरण सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्य करें) ।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

अनु०—(मध्यदेश)–हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच में कुरुक्षेत्र (विनशन) से पूर्व (प्राक्) तथा प्रयाग से पश्चिम में (प्रत्यक्) जो देश है वह 'मध्यदेश' कहा गया है (प्रकीर्तितः) ।

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

अनु०—(आर्यावर्त देश)–पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक (अर्थात् इन दोनों समुद्रों के मध्य में) तथा उन्हीं दोनों पर्वतों (हिमालय और विन्ध्याचल) के मध्यवर्ती (अन्तर) देश को विद्वान् लोग 'आर्यावर्त' कहते हैं (विदुः) ।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

अनु०—(यज्ञिय और म्लेच्छ देश)–जहाँ कृष्णसार (नामक) मृग स्वभाव से विचरण करता है (निवास करता है) (दूसरे स्थान से लाकर रखा हुआ नहीं), उसे यज्ञ के योग्य (यज्ञियः) देश जानना चाहिए । इससे अन्य 'म्लेच्छ' देश है (अर्थात् यज्ञ के अयोग्य देश है) ।

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

अनु०—(निवास करने योग्य देश)–द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) इन्हीं (पूर्वोक्त ब्रह्मावर्त आदि) देशों को प्रयत्न पूर्वक आश्रय बनावें (अर्थात् इन्हीं देशों में निवास करें) । आजीविका (वृत्ति) से पीड़ित शूद्र जिस किसी भी (देश) में निवास करे ।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

अनु०—(वर्णधर्मों के कथन का उपक्रम)–यह धर्म की योनि (उत्पत्ति-स्थान, कारण) और इस सम्पूर्ण (जगत्) की उत्पत्ति तुम लोगों को मेरे द्वारा संक्षेप में कही गयी । (अब ब्राह्मण आदि) वर्णों के धर्मों को जानिये । (सुनिये) (जगत् की उत्पत्ति का कथन प्रथम अध्याय में किया गया है) ।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

अनु०—(वैदिक मन्त्रों द्वारा द्विजों के संस्कार का विधान)—इस लोक में (इह) परलोक में (प्रेत्य = मरने के अनन्तर) पवित्र करने वाला (पावनः) द्विजों का गर्भाधान आदि (निषेकादिः) शरीर-संस्कार पवित्र (पुण्यैः) वैदिक मन्त्रों (कर्मभिः) से किया जाना चाहिए।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

अनु०—(संस्कारों का फल) गर्भ को शुद्ध करने वाले हवन, जातकर्म, चूड़ाकरण (मुण्डन) और मौञ्जी बन्धन (यज्ञोपवीत)—(इन संस्कारों) से द्विजों के वीर्य एवं गर्भ से उत्पन्न दोष (एनः) मिट जाते हैं (अपमृज्यते)।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

अनु०—(स्वाध्यायादि का फल)—वेद के पढ़ने से, व्रतों से, हवनों से (होमैः), त्रैविद्य (नामक व्रत) से, देव-ऋषि-पितृ तर्पण से (इज्यया), पुत्रों (पुत्र उत्पन्न करने) से, महायज्ञों से और यज्ञों से, यह शरीर (तनुः) ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य (ब्राह्मीयं) किया (बनाया) जाता है।

प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

अनु०—(जातकर्म संस्कार)—नाल काटने से (नालच्छेदन से, नाभिवर्धनात्) पहले बालक का 'जातकर्म' संस्कार किया जाता है। (इस संस्कार में) इस (नवजात बालक) को मन्त्रोच्चारण के साथ (मन्त्रवत्) सुवर्ण (हिरण्य), शहद (मधु) और घी (घृत, सर्पिः) खिलाया जाता है (प्राशन=खिलाना)।

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

अनु०—(नामकरण संस्कार का समय)–(जन्म से) दशवें अथवा बारहवें दिन इस (उत्पन्न हुए बालक) का 'नामकरण' संस्कार किया जाता है। (इन दिनों में न करने पर किसी भी) पुण्य तिथि अथवा मुहूर्त में अथवा गुणयुक्त नक्षत्र में (नामकरण किया जाता है)।

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

अनु०—(वर्णानुसार नामकरण)–ब्राह्मण का मङ्गलयुक्त (मङ्गल-सूचक शब्द से युक्त), क्षत्रिय का बलयुक्त (बल-सूचक शब्द से युक्त), वैश्य का धनयुक्त (धन-वाचक शब्द से युक्त) और शूद्र का निन्दायुक्त (घृणायुक्त) (निन्दित शब्दों से युक्त) नाम रखना चाहिए।

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रैष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

अनु०—ब्राह्मण का 'शर्मा' शब्द से युक्त, क्षत्रिय (राजा) का रक्षा (रक्षा-वाचक वर्मा शब्द) से युक्त, वैश्य का पुष्टि (पुष्टि-वाचक गुप्त शब्द) से युक्त और शूद्र का प्रेष्य (दास शब्द) से युक्त नाम होना चाहिए (क्रमशः उदाहरण—कल्याण शर्मा, विजयप्रताप वर्मा, कुबेरदत्त गुप्त, दीनदास)।

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

अनु०—(स्त्रियों का नामकरण)–स्त्रियों का (नाम) सुख से उच्चारण करने योग्य (सुखोद्यम् = सुख+उद्यम्, सुखेन उद्यम्), अक्रूर अर्थ का वाचक (अथवा टवर्गादि कटुवर्णों से रहित), स्पष्ट अर्थ वाला, मन को अच्छा लगने वाला (सुन्दर), माङ्गलिक (मङ्गलसूचक), अन्त में दीर्घ वर्ण (स्वर) वाला तथा आशीर्वादात्मक शब्दों (अभिधान) से युक्त (होना चाहिए) (उदाहरण सुशीला, यशोदा, सुवदना, मनोरमा इत्यादि)।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

अनु०—(निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कारों का काल)–चौथे मास में शिशु (बच्चे) को (पहली बार) घर से बाहर निकालना चाहिए (उसका निष्क्रमण संस्कार करना चाहिए) और छठे मास में (उसको पहली बार अन्न खिलाना चाहिए (उसका अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए) अथवा (बालक के कुल में जो (काल) मङ्गलकारक माना जाता रहा है उसमें (उक्त संस्कारों को करना चाहिए) । यद्वेष्टं = यत् + वा + इष्टम्) ।

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

अनु०—(चूडाकर्म संस्कार का समय)–वेद की आज्ञा से सभी द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का चूडाकरण संस्कार (मुण्डन) पहले अथवा तीसरे वर्ष में धर्म के अनुसार करना चाहिए ।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

अनु०—(उपनयन संस्कार का समय)–गर्भ (गर्भधारण वर्ष से आठवें वर्ष में ब्राह्मण (ब्राह्मण-बालक) का, गर्भ से ग्यारहवें में क्षत्रिय का (राज्ञः) तथा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य का (विशः) यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार करना चाहिए (कुर्वीत) (उपनायन = उपनयन) ।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

अनु०—(कामनाविशेष से उपनयन संस्कार का अन्य समय)–ब्रह्मतेज प्राप्त करने की इच्छा वाले ब्राह्मण (बालक का (गर्भ से) पाँचवें (वर्ष) में बल प्राप्त करने की इच्छा वाले क्षत्रिय का छठें (वर्ष) में तथा धन प्राप्त

करने की इच्छा वाले वैश्य का आठवें (वर्ष) में (यज्ञोपवीत संस्कार) करना चाहिए (पिता की इच्छा को ही यहाँ बालक की इच्छा समझना चाहिए)।

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

अनु०—(उपनयन संस्कार का अन्तिम काल)–सोलह (वर्ष) तक ब्राह्मण की, बाईस (वर्ष) तक क्षत्रिय की और चौबीस (वर्ष) तक वैश्य की सावित्री (गायत्री) का अतिक्रमण (उल्लङ्घन) नहीं होता। (इन वर्षों तक ही गायत्री का उपदेश किया जा सकता है। अतः इस अवस्था से पहले ही तीनों वर्णों का उपनयन संस्कार हो जाना चाहिए)।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

अनु०—(व्रात्य का लक्षण)–इस (समय) के बाद (ऊर्ध्व) यथासमय (यज्ञोपवित) संस्कार से रहित ये तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही सावित्री से पतित (उपनयन से हीन) तथा शिष्टजनों से निन्दित होकर (आर्यविगर्हिताः) 'व्रात्य' (संज्ञक) हो जाते हैं (अर्थात् 'व्रात्य' कहलाने लगते हैं)।

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

अनु०—(व्रात्य से सम्बन्ध का निषेध)–ब्राह्मण को अपवित्र (अपूतैः) इन (व्रात्यों) के साथ (एतैः सह) आपत्तिकाल में भी (आपदि अपि) कभी नियमानुसार (विधिवत्) वेदाध्ययन (ब्राह्मान् और विवाह (यौनान्) आदि सम्बन्धों को नहीं करना चाहिए (न आचरेत्)।

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारियों के धारण करने योग्य वस्त्र)–(ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के ब्रह्मचारियों को क्रमशः (आनुपूर्व्येण) कृष्ण मृग रुरु मृग

और बकरे (वस्त) के चर्म को (दुपट्टे के रूप में) तथा सन, रेशम और ऊन के वस्त्रों को (धोती के रूप में) धारण करना चाहिए (क्षुम = कीटविशेष, क्षौम = रेशम, अवि = भेड़; आविक = ऊन) ।

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥

अनु०—(मेखला)—ब्राह्मण की (विप्रस्य) मेखला मूँज की बनी हुई, तीन लड़ों (धागों) वाली (त्रिवृत्), बराबर (समा: कहीं मोटी और कहीं पतली नहीं) तथा चिकनी (श्लक्ष्णा) होनी चाहिए (करनी चाहिए; कार्या) । क्षत्रिय की (मेखला) तो मूर्वा नामक तृण-विशेष की प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) की (होनी चाहिए) तथा वैश्य की (मेखला) सन की रस्सी की (होनी चाहिए) ।

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

अनु०—(मूँज इत्यादि की मेखला का प्रतिनिधि)—मूँज (इत्यादि) के न मिलने पर (वर्णानुसार क्रमशः) कुश, अश्मन्तक (तृणविशेष) और बल्वज (तृणविशेष) से बनी हुई, तीन लड़ियों वाली तथा एक, तीन अथवा पाँच गाँठों से युक्त करनी चाहिए ।

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥

अनु०—(यज्ञोपवीत)—ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास (के सूत) का, क्षत्रिय का सन के सूत का और वैश्य का ऊन के सूत का ऊपर की ओर बँटा (ऐंठा) हुआ तथा तीन लड़ियों वाला होना चाहिए ।

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥

अनु०—(दण्ड)—धर्म के अनुसार ब्राह्मण को बेल या पलाश (ढाक) का, क्षत्रिय को वट या खैर (खदिर) का तथा वैश्य को पीलु या गूलर (उदुम्बर) का दण्ड धारण करना चाहिए ।

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

अनु०—(दण्ड का प्रमाण)—ब्राह्मण का दण्ड केश तक लम्बा बनाना चाहिए । क्षत्रिय का मस्तक तक और वैश्य का नासिका तक लम्बा होना चाहिए ।

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

अनु०—(दण्ड का स्वरूप)—वे सभी (दण्ड) सीधे (ऋजु), छिद्ररहित (अव्रणाः), देखने में सुन्दर, लोगों को भय न उत्पन्न करने वाले, छिलके (त्वचा) के सहित तथा अग्नि में न जले हुए होने चाहिए ।

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

अनु०—(भिक्षा-विधान)—(ब्रह्मचारी को) इच्छित (अभीष्ट, ईप्सितम्) दण्ड को लेकर (प्रतिगृह्य), सूर्य के सामने खड़े होकर (सूर्य का उपस्थान करके) तथा अग्नि की प्रदक्षिणा करके नियमानुसार भिक्षा माँगनी चाहिए ।

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

अनु०—(भिक्षा-विधि)—उपनीत (यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त) ब्राह्मण को 'भवत्' (शब्द) को पहले, क्षत्रिय को 'भवत्' (शब्द) को बीच में तथा वैश्य को 'भवत्' (शब्द) को बाद में (कहकर) भिक्षा माँगनी चाहिए ।

विशेष—ब्राह्मण ब्रह्मचारी "भवति भिक्षां देहि", क्षत्रिय ब्रह्मचारी "भिक्षां भवति देहि" और वैश्य ब्रह्मचारी "भिक्षां देहि भवति" इस प्रकार कहता हुआ भिक्षा माँगे। इस प्रकार कहकर भिक्षा माँगने से भिक्षा देने वाला माँगने वाले के वर्ण को सरलता से समझ सकेगा।

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्॥ ५०॥

अनु०—(सर्वप्रथम भिक्षा किससे माँगे)–(ब्रह्मचारी) सर्वप्रथम माता से अथवा बहन से अथवा अपनी सगी मौसी (माता की बहन) से अथवा जो भी उसका (निषेध के द्वारा) अपमान न करे ऐसी किसी भी स्त्री से भिक्षा माँगे।

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः॥ ५१॥

अनु०—(प्राप्त भिक्षा की भक्षण-विधि)–भिक्षा में जितना (यावत्) अन्न प्राप्त हो उसको लाकर (समाहृत्य) निष्कपट भाव से (अमायया, गुरुजी अच्छे भोज्य पदार्थ को अपने लिए ले लेंगे ऐसी कपट भावना न करके) गुरु को समर्पित (निवेदित) करे। तदनन्तर गुरु की आज्ञा पाकर। आचमन करके पवित्र होकर (शुचिः) पूर्वाभिमुख होकर (पूर्व दिशा की ओर मुख करके) भोजन करे (अश्नीयात्)।

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः॥५२॥

अनु०—(इच्छित फल के लिए भक्षण-विधि)–आयु की प्राप्ति के लिए पूर्व की ओर मुँह करके भोजन करना चाहिए, यश की प्राप्ति के लिये दक्षिण की ओर मुँह करके) धन की प्राप्ति के लिए पश्चिम की ओर मुँह करके भोजन करना चाहिए और सत्य की प्राप्ति के लिए उत्तर की ओर मुँह करके भोजन करना चाहिए।

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

अनु०—(भोजन के आदि और अन्त में आचमन)—द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को नित्य आचमन करके (उपस्पृश्य) एकाग्रचित्त हो (समाहितः) भोजन करना (अन्न खाना) चाहिए और भोजन करके अच्छी प्रकार से आचमन करना चाहिए तथा जल से इन्द्रियों का स्पर्श करना चाहिए (खानि = छिद्र = इन्द्रियाँ, दो आँख, दो नाक और दो कान-ये छिद्र वाली इन्द्रियाँ हैं। इनका स्पर्श किया जाता है) ।

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

अनु०—(भोजन के प्रति श्रद्धा)—प्रतिदिन भोजन का आदर करना चाहिए (भोजन को नित्य आदर की दृष्टि से देखना चाहिए) और उसकी निन्दा न करता हुआ भोजन करे (खाना खाए) । इसे देखकर संतुष्ट तथा प्रसन्न होना चाहिए तथा सर्वदा (अन्न-प्राप्ति के लिए अर्थात् 'मुझे यह अन्न सर्वदा मिलता रहे' इस प्रकार) प्रार्थना करे (प्रतिनन्देत्) ।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

अनु०—(श्रद्धा या अश्रद्धा से किए गए भोजन का फल)—आदरपूर्वक किया (खाया) हुआ भोजन नित्य बल और तेज को प्रदान करता है (यच्छति) तथा अनादर पूर्वक खाया हुआ यह (भोजन) दोनों (बल तथा तेज) को नष्ट कर देता है ।

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥ ५६ ॥

अनु०—(भोजनविषयक अन्य नियम)—जूठा भोजन किसी को नहीं देना चाहिए, और न स्वयं खाना चाहिए। (दिन तथा सन्ध्या के) बीच में (अर्थात् तीन बार) भोजन नहीं करना चाहिए, न अधिक भोजन करना चाहिए और जूठे मुँह (अर्थात् बिना कुल्ला किए) कहीं नहीं जाना चाहिए।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

अनु०—(अधिक भोजन से हानि)—अधिक भोजन आरोग्य (स्वास्थ्य), आयु, स्वर्ग तथा पुण्य का नाशक और लोकनिन्दित है। इसलिए उसका परित्याग करना चाहिए (अर्थात् अधिक भोजन नहीं करना चाहिए)।

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

अनु०—(आचमन के योग्य तीर्थ)—ब्राह्मण सर्वदा ब्राह्म तीर्थ से, प्राजापत्य (काय; क=प्रजापति) अथवा दैव (त्रिदश=देव) तीर्थ से आचमन करे, पित्र्य तीर्थ से कभी आचमन न करे।

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

अनु०—(तीर्थों के लक्षण)—(हाथ के) अङ्गूठे की जड़ के नीचे ब्राह्म तीर्थ, (कनिष्ठिका) अङ्गुलि की जड़ में प्राजापत्यतीर्थ, (अङ्गुलियों के) अगले (भाग) में दैवतीर्थ और उन दोनों (अंगूठे और तर्जनी के बीच के) नीचे पित्र्यतीर्थ कहा जाता है।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

अनु०—(आचमन की विधि) पहले जल से तीन बार आचमन करें, फिर दो बार मुँह को धोवे और जल से अपनी इन्द्रियों (नाक, कान, आँख) को, हृदय को (आत्मानं) तथा सिर को स्पर्श करना चाहिए।

२

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

अनु०—शुद्धता (पवित्रता) को चाहने वाला धर्मवेत्ता पुरुष एकान्त में पूर्व अथवा उत्तर मुख बैठकर ठंडे (गर्म न किये हुए) तथा फेनरहित (झागरहित) जल के द्वारा (उपर्युक्त ब्राह्म आदि तीर्थों के द्वारा) सर्वदा आचमन करे ।

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

अनु०—(आचमन के जल का प्रमाण)—ब्राह्मण हृदय में गये हुए, क्षत्रिय कण्ठ में गये हुए, वैश्य मुख में गये हुए (प्राशिताभिः) और शूद्र होठों (जिह्वा और होठों के अन्त अर्थात् अग्र भागों) से स्पर्श हुए जल से पवित्र होता है ।

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥

अनु०—(उपवीती इत्यादि के लक्षण)—दाहिने हाथ (पाणी) को ऊपर (करके बायें कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण) करने पर द्विज 'उपवीती', बायें (सव्ये) (को ऊपर करके दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करने) पर 'प्राचीनावीती' और (माला की भाँति यज्ञोपवीत) गले में रखने पर 'निवीती' कहा जाता है । (सज्जन = स्थापित करना = रखना) ।

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

अनु०—(नवीन मेखला आदि का ग्रहण)—नष्ट हुई मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलु को पानी में (अप्सु) फेंककर (प्रास्य) मन्त्र-पूर्वक दूसरी नवीन मेखला आदि को ग्रहण करना चाहिए ।

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

अनु०—(केशान्त संस्कार का समय)–ब्राह्मण का केशान्त (संस्कार) (दाढ़ी बनवाना) सोलहवें वर्ष में, क्षत्रिय का बाईसवें वर्ष में तथा वैश्य का उससे (ततः) दो वर्ष अधिक (अर्थात् चौवीसवें वर्ष) में किया जाता है।

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

अनु०—(बिना मन्त्र के स्त्रियों का संस्कार)–शरीर की पवित्रता के लिए स्त्रियों के ये सभी (अशेषतः) संस्कार नियत समय पर क्रमानुसार बिना मन्त्र के करने चाहिए (आवृत् = क्रियाकलाप = संस्कारसमूह)

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

अनु०—(स्त्रियों का वैदिक संस्कार)–स्त्रियों की विवाह-विधि (विवाह संस्कार) ही वैदिक संस्कार (उपनयन संस्कार), पति की सेवा ही गुरु के घर में निवास (गुरुकुल-निवास) और घर का कृत्य (गृह-कार्य) ही अग्निहोत्र कहा गया है (अत एव स्त्रियों के लिए उपनयन-संस्कार, गुरुकुल-निवास और अग्निहोत्र की आज्ञा नहीं है)।

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

अनु०—द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के (द्वितीय) जन्म का बोध कराने वाला यह पवित्र उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार (मेरे द्वारा कह दिया गया है। (अब उपनयन-संस्कार के बाद के) कृत्यों (कर्त्तव्यों, कर्मयोगं) को सुनो।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

अनु०—(यज्ञोपवीत संस्कार के बाद का कर्तव्य)—गुरु शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके (उपनीय) (उसे) प्रारम्भ में (आदितः) पवित्रता, आचार, अग्निहोत्र (होम, हवन) और सन्ध्योपासन कर्म को सिखलावे (शिक्षयेत्) ।

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

अनु०—(पढ़ाने के योग्य शिष्य)—पढ़ने (अध्ययन) की इच्छा वाला (अध्येष्यमाणः), शास्त्र के अनुसार आचमन किया हुआ (आचान्तः), उत्तराभिमुख (उत्तर की ओर मुख करके) ब्रह्माञ्जलि बांधकर (बाँध करके) बैठा हुआ, हलके (कौपीन आदि) वस्त्र को पहना हुआ (लघुवासाः) और जितेन्द्रिय (शिष्य) पढ़ाने के योग्य है (अध्याप्यः) ।

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

अनु०—(ब्रह्माञ्जलि का लक्षण)—अध्ययन के आरम्भ में और समाप्त होने पर सर्वदा गुरु के पैरों का स्पर्श करना चाहिए । हाथों को जोड़कर (संहत्य) अध्ययन करना चाहिए क्योंकि वह ही ब्रह्माञ्जलि कहलाती है ।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

अनु०—(गुरु के अभिवादन की विधि)—हाथों को परिवर्तित करके (अर्थात् हाथों को हेर फेर कर) गुरु का चरणस्पर्श (पाद-वन्दन) करना चाहिए । (अर्थात्) बाँये (हाथ) से (गुरु का) बाँया (चरण, पैर) और दाहिने (हाथ) से (गुरु का) दाहिना (चरण, पैर) स्पर्श करना चाहिए ।

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥

अनु०—(अध्ययन का प्रारम्भ और विराम) गुरु को सर्वदा आलस्य रहित होकर पढ़ने वाले शिष्य से (अध्ययन के प्रारम्भ में) 'भो अधीष्व' (हे शिष्य ! पढ़ो) ऐसा कहना चाहिए और (अध्ययन के अन्त में) 'विरामो अस्तु' (अब अध्ययन समाप्त हो) ऐसा (कहकर) (पाठ) समाप्त करना चाहिए।

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

अनु०—(वेदाध्ययन के प्रारम्भ तथा अन्त में ॐकार का उच्चारण)–(ब्रह्मचारी को) वेदाध्ययन के (ब्रह्मणः) प्रारम्भ में और अन्त में सर्वदा ओंकार (ॐ शब्द, प्रणवः) का उच्चारण करना चाहिए क्योंकि प्रारम्भ में ओंकार का उच्चारण न करने से (अध्ययन) वह जाता है (धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है, स्थिर नहीं रहता, स्रवति) और बाद में (ओंकार का) उच्चारण न करने पर (अध्ययन) पूर्णतः- विनष्ट हो जाता है (विशीर्यति)।

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥ ७५ ॥

अनु०—(ओंकार के उच्चारण की योग्यता)–पूर्व की ओर (प्राक्) जिनका अग्रभाग (कूल) है ऐसे (कुशाओं) के (आसन के) ऊपर (प्राक्कूलान्) बैठा हुआ (पर्युपासीनः), (हाथ में ग्रहण किए हुए) कुशाओं के बने हुए (दर्भनिर्मित) पवित्रों से पवित्र किया हुआ तथा तीन प्राणायामों से शुद्ध (पवित्र) होकर तदनन्तर (ततः) ओंकार के उच्चारण के योग्य होता है।

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ७६ ॥

अनु०—(ओंकार तथा व्याहृतियों की उत्पत्ति)–प्रजापति (ब्रह्मा) ने अकार (अ), उकार (उ) और मकार (म्) (इन तीन वर्णों) को तथा भूः, भुवः और स्वः (इन तीन महाव्याहृतियों) को तीनों वेदों से निकाला है।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

अनु०—(सावित्री की उत्पत्ति)-परमेष्ठी (परम स्थान में स्थित) प्रजापति (ब्रह्मा) ने (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इन) तीन वेदों से ही 'तत्' इस सावित्री (सवितृ देवता वाली) ऋचा के एक-एक पाद को निकाला है (ऋग्वेद से—तत्सवितुर्वरेण्यं; यजुर्वेद से—भर्गो देवस्य धीमहि; सामवेद से—धियो यो नः प्रचोदयात्) ।

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

अनु०—(सावित्री जप का फल)—वेदज्ञ ब्राह्मण दोनों (प्रातः तथा सायं) सन्ध्याओं में इस (ओम्) अक्षर और तीनों व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) के सहित इस (सावित्री) को जपता हुआ वेदाध्ययन के फल से युक्त हो जाता है ।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

अनु०—इन तीनों (ओंकार, व्याहृति और सावित्री) को (ग्राम से) बाहर (एकान्त स्थान में) (प्रतिदिन) एक हजार बार जप कर द्विज एक मास में बड़े पाप (एनसः) से भी उसी प्रकार छूट जाता है, जिस प्रकार कांचली से सांप छूट जाता है ।

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

अनु०—(जप न करने पर दोष)—इस (ओंकार तथा व्याहृतियों के सहित सावित्री) ऋचा और समय पर अपने (वर्णानुसार विहित अग्निहोत्र आदि) कर्मों से हीन (अर्थात् इनको छोड़ देने वाला) ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य सज्जनों में निन्दा (गर्हणां) को प्राप्त करता है ।

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

अनु०—(ओंकार आदि की प्रशंसा) ओंकारपूर्वक अविनाशिनी महाव्याहृतियों और तीन पादों वाली सावित्री को वेद का मुख (आदि भाग) जानना चाहिए। (अथवा-ब्रह्म-प्राप्ति का द्वार अर्थात् उपाय जानना चाहिए)।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

अनु०—जो आलस्य छोड़कर प्रतिदिन इस (ओङ्कार और महाव्याहृतियों के सहित सावित्री) को तीन वर्ष तक पढ़ता है वह वायु रूप (अर्थात् वायु के समान सर्वत्र गमन करने वाला) और आकाशरूप (अर्थात् आकाश के समान सर्वव्यापी होकर, ख = आकाश) पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है (ब्रह्मस्वरूप हो जाता है) ।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥

अनु०—एक अक्षर (ॐ) पर ब्रह्म है, प्राणायाम परम तप (सबसे बड़ी तपस्या) है, सावित्री से बढ़कर (कोई दूसरा मन्त्र) नहीं है और मौन की अपेक्षा सत्य भाषण श्रेष्ठ है ।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

अनु०—हवन (होम), यज्ञ (आदि) सभी वैदिक (वेदविहित) क्रियायें नष्ट हो जाती हैं (अर्थात् विनाशशील) हैं। केवल अक्षर (ॐ) को ही अविनाशी ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) और प्रजापति जानना चाहिए।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

अनु०—(मानस जप की श्रेष्ठता)–विधियज्ञ से जपयज्ञ (ओंकार आदि का जपरूप यज्ञ) दश गुना, उपांशु (जप) सौ गुना और मानस (जप) हजार (सहस्र) गुना श्रेष्ठ (बढ़कर, विशिष्ट:) माना गया है।

विशेष—(१) 'यजेत' इस क्रिया-पद के द्वारा विहित तथा ऋत्विजों के द्वारा किया जाने वाला कर्म 'विधियज्ञ' कहलाता है, जैसे ज्योतिष्टोम, दर्श-पौर्णमास। (२) जपयज्ञ तीन प्रकार का होता है—'वाचिक', 'उपांशु' और 'मानस'। स्पष्ट रूप से उच्चारण किए हुए जप को 'वाचिक' जप कहा जाता है। समीप में स्थित भी दूसरा व्यक्ति जिसे नहीं सुनता है वह 'उपांशु' जप है। इसमें वर्णों का धीरे-धीरे उच्चारण किया जाता है। जब मन से वर्णों का केवल चिन्तन (विचार) किया जाता है, वह मानस जप कहलाता है। इसमें जिह्वा और होठ नहीं चलते हैं।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

अनु०—(जपयज्ञ की महिमा)–विधि-यज्ञ के सहित जो चार (वैश्वदेव होम, बलिकर्म, नित्यकर्म और अतिथि-भोजन) पाक यज्ञ हैं वे सभी जप-यज्ञ के सोलहवें भाग (कला) के बराबर नहीं है।

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

अनु०—ब्राह्मण जप से ही (ब्रह्म-प्राप्ति पर्यन्त सभी) सिद्धि प्राप्त करता है—इसमें कोई संदेह नहीं, चाहे वह कोई दूसरा (वैदिक कर्म) करे या न करे (वास्तव में उसके लिए दूसरा वैदिक कर्म करना ठीक भी नहीं क्योंकि) ब्राह्मण को (सबका) मित्र कहा जाता है (पशु-याग करने से उसे सबका मित्र नहीं कहा जा सकता) (मैत्र = मित्र)।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

अनु०—(इन्द्रिय संयम)—विद्वान् को मनोहर (मन का हरण करने वाले) विषयों में विचरण (भ्रमण) करने वाली इन्द्रियों के संयम (निग्रह, रोकने) में उसी प्रकार प्रयत्न करना चाहिए, जिस प्रकार सारथि घोड़ों के (वाजिनाम्) (रोकने में प्रयत्न करता है) ।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

अनु०—(ग्यारह इन्द्रियाँ) प्राचीन विद्वानों ने जिन ग्यारह इन्द्रियों को बतलाया है उनको क्रमानुसार (अनुपूर्वशः) अच्छी प्रकार से (यथावत्) कहूँगा ।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

अनु०—(प्रथम दश इन्द्रियों के नाम)—कान, त्वचा, नेत्र (आँख), जीभ पाँचवीं नाक, गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर और वाणी दशवीं कही गई है ।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

अनु०—(ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय)—इन (दश इन्द्रियों) में क्रमशः कान इत्यादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा गुदा इत्यादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ कहलाती है ।

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

अनु०—(ग्यारहवीं इन्द्रिय मन)—अपने गुण से दोनों (कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय) के रूप में अवस्थित मन को ग्यारहवीं (इन्द्रिय) जानना चाहिए और जिसके जीत लेने पर ये पाँच-पाँच के दो समूह (अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) जीत ली जाती हैं ।

वि०—इन्द्रियों में मन एक ऐसी इन्द्रिय है जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों ही मानी जाती है । यह ज्ञानशील भी है और कर्मशील भी । इसी के

अधिकार में रहकर ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

अनु०—(इन्द्रियों के संयम से सिद्धि)-(मनुष्य) इन्द्रियों की आसक्ति से (अर्थात् इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने पर) निःसन्देह दोष को प्राप्त करता है और उन (इन्द्रियों) को अच्छी प्रकार से नियन्त्रित करके सिद्धि को प्राप्त करता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

अनु०—(विषयों के उपभोग से इच्छा का शान्त न होना)-कामना (इच्छा) विषयों (काम्य पदार्थों, कामानाम्) के उपभोग से कभी भी (जातु) शान्त (तृप्त) नहीं होती प्रत्युत घी से (हविषा) अग्नि (कृष्णवर्त्मा) की भाँति अधिकाधिक (अधिकतर, भूयः) ही बढ़ती है।

वि०—उपभोग (सेवन) से कामना शान्त नहीं होती। जिस प्रकार घृत की आहुति देने से अग्नि अधिक ही अधिक बढ़ती जाती है, उसी प्रकार विषयों के आस्वादन (सेवन) से कामना अधिक ही अधिक बढ़ती जाती है।

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

अनु०—(विषयों के परित्याग की श्रेष्ठता)—जो इन सभी (विषयों) को प्राप्त करे और जो इन सभी (विषयों) को छोड़ दे, (इन दोनों में से) सभी विषयों की प्राप्ति (प्रापणात्) से उनका छोड़ देना (परित्यागः) श्रेष्ठ है।

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

अनु०—(इन्द्रियों को वश में करने के उपाय)—नित्यप्रति (सांसारिक) विषयों के उपभोग में लगी हुई ये (इन्द्रियाँ) जिस प्रकार ज्ञान से रोकी जा सकती हैं (वश में की जा सकती हैं), उस प्रकार असेवन से (विषयों को विना सेवन किये, असेवया) नहीं (अत एव विषयों के दोषों को जानकर इन्द्रियों को विषयों से रोकना चाहिए।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

अनु०—(दुष्ट स्वभाव वाले को सिद्धि का न मिलना)—दुष्ट स्वभाव वाले (अर्थात् सर्वदा सांसारिक विषयों के उपभोग में लगे हुए) मनुष्य के लिए वेद, दान, यज्ञ, नियम और तप-ये कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कराते (कभी भी सिद्धि नहीं देते)।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८ ॥

अनु०—(जितेन्द्रिय का स्वरूप)—जो मनुष्य (प्रशंसा-निन्दा, मधुर वाणी-कठोर वाणी) को सुनकर, (कोमल रेशमी वस्त्रादि तथा रूखे कम्बलादि) को छूकर, (सुन्दर तथा कुरूप को) देखकर, (स्वादयुक्त तथा स्वादहीन पदार्थों को) खाकर, (सुगन्धित तथा दुर्गन्धित पदार्थों को) सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न दुःखी (खिन्न) ही होता है (अर्थात् जो सर्वत्र समदर्शी है), उसे 'जितेन्द्रिय' जानना चाहिए।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

अनु०—(एक भी इन्द्रिय के वश में न होने से प्रज्ञा की हानि)—सभी इन्द्रियों में से यदि एक (भी) इन्द्रिय विचलित हो जाती है (विषय में आसक्त हो जाती है) तो उससे (तेन) उस (पुरुष) की बुद्धि (प्रज्ञा) उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार चर्म-पात्र (मशक) से जल (एक भी छिद्र से बह जाता है)।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

अनु०—(पुरुषार्थों के साधन के लिए इन्द्रियों को वश में करना)–इन्द्रिय-समूह को वश में करके और उसी प्रकार मन को नियन्त्रित (संयमित) करके तथा उपायों के द्वारा (योगतः) शरीर का संरक्षण करता हुआ (शरीर को क्षीण न बनाता हुआ) (मनुष्य) सभी पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का साधन करे (सभी पुरुषार्थों को सिद्ध करना चाहिए) ।

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमाऽर्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

अनु०—(सन्ध्योपासन का समय)-प्रातःकाल की सन्ध्या में सूर्य के दर्शन होने तक (सूर्योदय पर्यन्त) गायत्री को (सावित्रीम्) जपते हुए खड़ा रहे तथा सायंकाल की सन्ध्या में अच्छी तरह तारे (ऋक्ष) निकलने तक बैठकर (सावित्री का जप करे) ।

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

अनु०—(सन्ध्योपासन से पाप का नाश)--प्रातःसन्ध्या में खड़े होकर (सावित्री) का जप करता हुआ (मनुष्य) रात्रि के (नैशम्) पाप को (एनः) नष्ट करता है और सायं सन्ध्या में बैठकर (सावित्री का जप करता हुआ) दिन में किए हुए (दिवाकृतम्) पाप (मलं) को नष्ट करता है ।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥

अनु०—(सन्ध्या न करने वाले द्विज का बहिष्कार)—जो न तो प्रातः (सन्ध्या) को करता है और जो न सायं (सन्ध्या) को करता है, वह शूद्र के समान सभी द्विज-कर्मों से बाहर (बहिष्कृत) करने योग्य है ।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

अनु०—(सावित्री मात्र का जप)--नित्य विधि (ब्रह्मयज्ञ, नैत्यकं विधिम्) करने का इच्छुक (आस्थितः) (द्विज) को वन (एकान्त स्थान) में जाकर जल के समीप जितेन्द्रिय (नियतः) और एकाग्रचित्त होकर (समाहितः) सावित्री का ही जप (अध्ययन) करना चाहिए (यह ब्रह्मयज्ञ का विधान है। अधिक अध्ययन करने में असमर्थ द्विज को कम से कम इतना अध्ययन तो अवश्य ही करना चाहिए) ।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

अनु०—(अनध्याय में भी किए जाने वाले कार्य)–वेदाङ्गों (वेद के उपकारकों = वेदाङ्गों) (के अध्ययन) में, प्रतिदिन किये जाने वाले स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञ) में और होम के मन्त्रों (=हवन कर्म) में अनध्याय का आदर नहीं है (अर्थात् अनध्याय में भी इन्हें करना चाहिए) ।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

अनु०—(नित्यकर्म में अनध्याय का अभाव)–नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता क्योंकि उसे (मनु आदि महर्षियों के द्वारा) ब्रह्मसत्र कहा गया है। अध्ययन (ब्रह्म) रूपी आहुति से (यह सत्र) निष्पन्न होता है तथा अनध्याय (में किया जाने वाला अध्ययन इस सत्र में) पुण्यजनक वषट्कार है ।

वि०—जिस प्रकार हजारों वर्षों तक चलने वाले दीर्घकालीन सत्र-यागों में कोई विच्छेद (व्यवधान) नहीं होता है, उसी प्रकार नित्यकर्म (ब्रह्मयज्ञ) में भी विच्छेद नहीं होता, क्योंकि इसे भी सत्र माना गया है । विच्छेद होने पर यह सत्र नहीं रहेगा । सत्र निरन्तर डाली जाने वाली सोमाहुतियों से निष्पन्न होता है । नित्यकर्म निरन्तर किये जाने वाले अध्ययन से निष्पन्न होता है । सत्र में

याज्यासंज्ञक मन्त्रों के अन्त में वषट्कार (वौषट् शब्द का उच्चारण) होता है। अनध्याय में किया जाने वाला अध्ययन ही नित्यकर्म में वषट्कार है।

य: स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

अनु०—(वेदाध्ययन से दूध इत्यादि की प्राप्ति)—जो जितेन्द्रिय और पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधिपूर्वक अपने वेद का (स्वाध्यायम्) अध्ययन करता है (अधीते) उसको यह (वेद) प्रतिदिन दूध, दहीं, घी और मधु देता है।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी द्वारा समावर्तन तक किए जाने वाले कार्य)—उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) हो जाने पर द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को समावर्तन (संस्कार) तक (= वेदाध्ययन की समाप्ति तक) अग्नि में इन्धन (समिधा) से हवन, भिक्षाचरण, नीचे (जमीन पर) शयन और गुरु का हित (गुरु की सेवा) करना चाहिए।

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः॥ १०९ ॥

अनु०—(पढ़ाने के योग्य शिष्य)—आचार्य का पुत्र, सेवा करने वाला, ज्ञान देने वाला (अन्य विषय की शिक्षा देने वाला), धर्मशील, पवित्र, सत्य बोलने वाला (आप्तः), (ज्ञान को ग्रहण करने और धारण करने में) समर्थ, धन देने वाला, सज्जन और आत्मीय (स्वजातीय) ये दश धर्म-शास्त्र की दृष्टि से (गुरु के द्वारा) पढ़ाने के योग्य होते हैं।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

अनु०—(बिना पूछे बतलाने का निषेध)—बिना पूछे हुए किसी को कुछ नहीं बतलाना चाहिए, अन्याय से (श्रद्धा आदि का त्याग कर) पूछने पर भी कुछ

भी नहीं बताना चाहिए। (ऐसी स्थिति में) बुद्धिमान् (पुरुष) को जानते हुए भी मूर्ख के समान आचरण करना चाहिए।

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥ १११ ॥

अनु०—(अन्यायपूर्वक पूछने और उसका उत्तर देने से हानि)—अधर्म (अन्याय) से (पूछे जाने पर) जो बतलाता है (उत्तर देता है और जो अधर्म से पूछता है, उनमें से एक मर जाता है अथवा शत्रुता को प्राप्त करता है।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

अनु०—(धर्मादि के अभाव में विद्यादान की निष्फलता)—जहाँ (अर्थात् जिस शिष्य में) धर्म और अर्थ (धन) न हों और उस प्रकार की (अर्थात् विद्या के अनुरूप) सेवा भी न हो, वहाँ (अर्थात् उस शिष्य को) विद्या नहीं कहनी (= पढ़ानी) चाहिए। (ऐसे शिष्य को विद्या देना) ऊसर भूमि में उत्तम (शुभं) बीज (बोने के समान निष्फल है)।

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

अनु०—वेदज्ञ विद्वान् (विद्या को बिना पढ़ाये) विद्या के साथ मर भले ही जाये किन्तु घोर आपत्ति में भी इस (विद्या) को ऊसर में (ईरिणे) न बोवे (न वपेत्) (अर्थात् कुपात्र को नहीं पढ़ावे)।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

अनु०—(ब्राह्मण से विद्या का कथन)—विद्या (विद्या की अधिष्ठात्री देवी) ब्राह्मण के पास आकर बोली "मैं तुम्हारी निधि (खजाना, शेवधिः)

हूँ, मेरी रक्षा करो, मुझे निन्दा करने वाले को (असूयकाय) मत दो। इससे मैं वीर्यवती (बलवती) होऊँगी"।

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥ ११५ ॥

अनु०—(विद्या ने ब्राह्मण से कहा)—"जिसको पवित्र, जितेन्द्रिय (नियत) और ब्रह्मचारी समझो (समझते हो विद्यात) उस (विद्यारूप) निधि की रक्षा करने वाले प्रमादरहित (सावधान) ब्राह्मण के लिए मुझ (विद्या) को बताओ (पढ़ाओ)।

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

अनु०—(आज्ञा के बिना वेद-ग्रहण का निषेध)—अभ्यासार्थं स्वयं अध्ययन करते हुए अथवा किसी अन्य शिष्य को अध्यापन कराते हुए गुरु से आज्ञा के बिना ही जो वेद (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है वह वेद (ब्रह्म) की चोरी (स्तेय) करने का दोषी होकर नरक को जाता है।

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

अनु०—(गुरु का अभिवादन)—जिससे (यतः) लौकिक, वैदिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करे (आददीत) उसे (सभा में) सबसे पहले प्रणाम करे।

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

अनु०—(अविहित आचरण की निन्दा)—शास्त्र के विधान के अनुसार आचरण करने वाला (अर्थात् सदाचारी, सुयन्त्रितः) ब्राह्मण केवल सावित्री (गायत्री) का ज्ञाता होने पर भी श्रेष्ठ है। किन्तु सब कुछ (निषिद्ध पदार्थों

को भी) खाने वाला (सर्वाशी), (दुग्ध आदि) सब कुछ वेचने वाला (सर्वविक्रयी) तथा शास्त्र के विधान के अनुसार आचरण न करने वाला (ब्राह्मण) तीनों वेदों का ज्ञाता होने पर भी श्रेष्ठ नहीं है।

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

अनु०—(बड़ों के प्रति आचरण)—बड़ों द्वारा (श्रेयसा) ग्रहण की जाने वाली शय्या अथवा आसन पर बैठा हो तो (बड़ों के आनेपर) उठकर इन (बड़ों) को प्रणाम (अभिवादन) करना चाहिए।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

अनु०—(प्रणाम करने का कारण)-वृद्ध लोगों (बड़ों) के आने पर (स्थविरे आयति) युवा लोगों के प्राण ऊपर को चढ़ते हैं (शरीर से बाहर निकलने को उद्यत हो जाते हैं)। उठने तथा प्रणाम करने से (अर्थात् उठकर प्रणाम करने से) (वह युवा पुरुष) पुनः उन (प्राणों) को प्राप्त कर लेता है (प्राण शरीर में स्थिर हो जाते हैं)।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ १२१ ॥

अनु०—(बड़ों को प्रणाम करने तथा वृद्धों की सेवा का फल)-प्रतिदिन (बड़ों को) प्रणाम करने वाले तथा वृद्धों की सेवा करने वाले (मनुष्य) की आयु, विद्या, यश और वल-ये चारों बढ़ते हैं (इन चारों की वृद्धि होती है)।

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

अनु०—(प्रणाम करने की विधि)—बड़ों को (ज्यायांसम्) प्रणाम करता

हुआ ब्राह्मण प्रणाम के बाद "मैं अमुक नाम वाला हूँ" इस प्रकार अपने नाम को कहे (बतलावे)।

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

अनु०—(अविद्वान् और स्त्रियों को प्रणाम करने की विधि)—जो लोग (संस्कृत के ज्ञान के अभाव में) नाम के उच्चारणपूर्वक प्रणाम (अभिवादन) (के अर्थ) को नहीं जानते हैं उनको और उसी प्रकार सभी स्त्रियों को विद्वान् पुरुष (प्राज्ञः) (अपना नाम न लेकर) "मैं नमस्कार करता हूँ" (अभिवादयेऽहम्) इतना ही कहे।

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

अनु०—(नाम के अन्त में 'भोः' शब्द का उच्चारण)—प्रणाम (के समय) में अपने नाम के अन्त में 'भोः' शब्द को कहना चाहिए ('भोः' शब्द का उच्चारण करना चाहिए) क्योंकि ऋषियों ने 'भोः' (शब्द) को नाम का स्वरूप कहा है (उदाहरण—"अभिवादये अमुकशर्माहं भोः")।

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ १२५ ॥

अनु०—(प्रत्यभिवादन की विधि)—प्रणाम (अभिवादन) करने के अनन्तर (अभिवादने) (अभिवाद्य = प्रणाम प्राप्त करने वाले को) (युवा) ब्राह्मण (आदि) से "हे सौम्य ! आयुष्मान् होवो (आयुष्मान् भव सौम्य")—यह कहना चाहिए (वाच्यः) और इसके (अर्थात् प्रणाम करने वाले युवा के) नाम के अन्त में स्थित अकार (आदि) स्वर को, पूर्ववर्ती व्यञ्जन के सहित (पूर्वाक्षरः), प्लुत (त्रिमात्रिक) उच्चारण करना चाहिए (तात्पर्य यह है कि अन्तिम स्वर को इसके पूर्ववर्ती व्यञ्जन से अलग न करके प्लुत उच्चारण करना चाहिए। यहाँ अक्षर = व्यञ्जन)।

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

अनु०—(मूर्ख के अभिवादन का निषेध)–जो ब्राह्मण प्रणाम (अभिवादन) के प्रत्युत्तर (प्रत्यभिवादन) (आशीर्वाद देने) को नहीं जानता, विद्वान् पुरुष को उसे प्रणाम नहीं करना चाहिए क्योंकि जैसा शूद्र है वैसा ही वह है (अर्थात् वह शूद्र के समान है) ।

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

अनु०—(वर्णानुसार कुशल पूछने की विधि)–मिलने पर (समागम्य) ब्राह्मण से कुशल, क्षत्रिय से स्वास्थ्य, (अनामय) वैश्य से कल्याण और शूद्र से आरोग्य (का समाचार) पूछना चाहिए ।

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

अनु०—(दीक्षित के नामोच्चारण का निषेध)—जो अपने से छोटा (यवीयान्) होते हुए भी (यज्ञ-कर्म में) दीक्षित है उसे (उसके) नाम द्वारा नहीं बुलाना (पुकारना) चाहिए, धर्मवेत्ता (धर्म के जानने वाले) के उसे "भोः" अथवा भवान् (आप) (शब्द) से पुकारना चाहिए ।

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

अनु०—(दूसरे की पत्नी के नामोच्चारण का निषेध)–जो स्त्री दूसरे की पत्नी हो तथा अपने यौन सम्बन्ध में न आती हो (अर्थात् बहन आदि न हो) तो उसे (बातचीत करते समय) 'भवति', 'सुभगे' और 'भगिनि' कहे (कहकर पुकारे) ।

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

अनु०—(कनिष्ठ मामा आदि का स्वागत)—कनिष्ठ (छोटे) मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विक् और गुरुओं से उठकर "मैं अमुक नाम वाला हूँ"—यह कहे।

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूश्च पितृष्वसा ।
सम्पूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

अनु०—(गुरुपत्नी के समान पूज्य)—मौसी, मामी, सास और फूआ—ये गुरुपत्नी के समान (अभिवादनादि के द्वारा) पूजनीय हैं (क्योंकि) ये सभी गुरुपत्नी के तुल्य हैं।

भ्रातुर्भार्योपसङ्ग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥ १३२ ॥

अनु०—(ज्येष्ठ भ्रातृपत्नी आदि का अभिवादन)—अपने (बड़े) भाई की सवर्णा पत्नी का प्रतिदिन चरणस्पर्श कर अभिवादन करना चाहिए। जाति वालों (पिता के पक्ष के चाचा आदि) और सम्बन्धियों (माता के पक्ष के मामा आदि तथा श्वशुर आदि) की स्त्रियों का विदेश से आने पर (विप्रोष्य) चरणस्पर्शपूर्वक अभिवादन करना चाहिए।

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।
मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

अनु०—(माता की श्रेष्ठता)—पिता और माता की बहन (अर्थात् फूआ और मौसी) तथा जेठी (बड़ी) बहन के साथ माता के समान व्यवहार (वृत्तिम्) करना चाहिए, किन्तु माता उनसे श्रेष्ठ है।

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

अनु०—(मैत्रीकाल)—अपने नगर वालों तथा गाँव वालों के साथ दश वर्ष की छोटाई-बड़ाई रहने पर, (गीत, चित्रादि) कला जानने वालों के साथ पाँच वर्ष की छोटाई-बड़ाई रहने पर, वेदपाठियों के (श्रोत्रियाणां) साथ तीन वर्ष की छोटाई-बड़ाई रहने पर और अपने कुल (वंश) वालों के साथ बहुत थोड़ी ही छोटाई-बड़ाई होने पर मित्रता (सख्य) करनी चाहिए।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

अनु०—(ब्राह्मण और क्षत्रिय में पिता-पुत्र-भाव)—दस वर्ष के ब्राह्मण और सौ वर्ष के क्षत्रिय को (परस्पर) पिता-पुत्र (के समान) समझना चाहिए। उनमें ब्राह्मण पिता (के समान पूज्य) होता है।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

अनु०—(धन आदि की उत्तरोत्तर मान्यता)—धन, बन्धु, आयु (उम्र), कर्म (श्रौत तथा स्मार्तक्रिया) और पाँचवी विद्या—ये पूज्यता (मान्यता) के स्थान (कारण) हैं। इनमें जो-जो परवर्ती है वह-वह श्रेष्ठ है (इस प्रकार धन से बन्धु, बन्धु से आयु, आयु से कर्म और कर्म से विद्या श्रेष्ठ है)।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

अनु०—(उपर्युक्त कथन का अपवाद)—तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में (उपर्युक्त) पाँच (गुणों) में से बहुत से (भूयांसि) गुण जहाँ (जिस व्यक्ति में) हों वह यहाँ सम्मान के योग्य है। नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाला शूद्र भी (सम्मान के योग्य होता है)।

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

अनु०—(मार्ग देने योग्य व्यक्ति)–सवारी पर बैठे हुए, नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले, रोगी, बोझ लिए हुए, स्नातक, राजा और वर (दूल्हे) को मार्ग (रास्ता) दे देना चाहिए।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

अनु०—(स्नातक की श्रेष्ठता)–उनके एकत्र आ जाने पर (अर्थात् १३८ वें श्लोक में निर्दिष्ट आठों एक स्थान पर आ जायें तो) स्नातक और राजा पूजनीय (मान्य) हैं (अर्थात् सवारी पर बैठे हुए इत्यादि को स्नातक और राजा के लिए मार्ग देना चाहिए) और राजा तथा स्नातक में स्नातक ही राजा से सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी है (राजा को स्नातक के लिए मार्ग दे देना चाहिए)।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

अनु०—(आचार्य का लक्षण)–जो द्विज शिष्य का उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार करके उसको कल्पसूत्रों और उपनिषद् (रहस्य) के सहित वेद पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं।

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

अनु०—(उपाध्याय का लक्षण)–जो वेद के एक भाग (अर्थात् मन्त्र-भाग अथवा ब्राह्मण भाग) को अथवा वेदाङ्गों को जीविका के लिए पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

अनु०—(गुरु का लक्षण)—जो ब्राह्मण शास्त्रानुसार गर्भाधान इत्यादि कर्मों को करता है और अन्न के द्वारा पालन-पोषण-करता है, वह गुरु (पिता) कहलाता है।

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

अनु०—(ऋत्विक् का लक्षण)–(यजमान के द्वारा) चुना हुआ (वरण किया हुआ, वृतः) जो (ब्राह्मण) जिस (यजमान) के अग्न्याधान, पाकयज्ञ, और अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञों को (मखान्) करता है, वह (ब्राह्मण) उस (यजमान) का ऋत्विक् कहलाता है।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥

अनु०—(आचार्य का गौरव)–जो आचार्य सत्य (दोषहीन, अवितथं) वेद-ज्ञान से (ब्रह्मणा) दोनों कानों को भरता है (परिपूर्ण करता है), उसे माता-पिता (के समान) जानना (समझना) चाहिए। उससे कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिए।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

अनु०—(माता का गौरव)–उपाध्याय से दस गुना आचार्य, आचार्य से सौ गुना पिता, पिता से हजार गुना माता गौरव में अधिक होती है।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

अनु०—(पिता से आचार्य की श्रेष्ठता)–उत्पन्न करने वाले (जन्म देने वाले) पिता और वेद-ज्ञान (ब्रह्म) देने वाले (वेद पढ़ाने वाले) पिता इन दोनों में वेद-ज्ञान को देने वाला पिता (अर्थात् आचार्य) श्रेष्ठ है क्योंकि

वेद-ज्ञान (ब्रह्म) के ग्रहण के लिए उपनयनसंस्काररूप जन्म है वह यहाँ (= इस लोक में) और परलोक में (मरने पर, प्रेत्य) शाश्वत (नित्य, कल्याणप्रद, उपकारक) है (क्योंकि इससे ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है)। (आचार्य ही शिष्य का उपनयन संस्कार करता है)।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

अनु०—माता और पिता परस्पर काम के वशीभूत होकर इस (बालक) को उत्पन्न करते हैं। योनि (मातृकुक्षि) से जो उत्पन्न होना है उसे तो उस (बालक) का जन्ममात्र (संभूति) जानना चाहिए (जन्ममात्र की दृष्टि से तो मनुष्य और पशु समान हैं)।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥ १४८ ॥

अनु०—वेद का ज्ञाता आचार्य इस (बालक) को विधिपूर्वक सावित्री (मन्त्र के उपदेश) से जो जन्म देता है, वही जरा (बुढ़ापे) और मृत्यु से रहित उसका सच्चा (जन्म है)।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

अनु०—जो (अध्यापक) थोड़ा अथवा बहुत वेद (श्रुतस्य) पढ़ाकर जिस (शिष्य) का उपकार करता है, उस वेदाध्ययनरूप उपकार से (=वेद को पढ़ाने के कारण) उसको भी गुरु जानना चाहिए।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

अनु०—(बालक भी आचार्य पिता के समान) वेद के अध्ययन के लिए जन्म देने वाला (अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार कराने वाला) और अपने धर्म

की शिक्षा देने वाला (वेदव्याख्याता) बालक ब्राह्मण भी शास्त्र के अनुसार वृद्ध का पिता (पिता के समान) होता है।

अध्यापयामास पितृञ्शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अनु०—(आङ्गिरस का दृष्टान्त)-अङ्गिरा के विद्वान् बालक ने अपने पितृतुल्य चाचा, मामा और बड़े भाइयों को (पितॄन्) पढ़ाया। अपने ज्ञान के द्वारा (उनको शिष्य के रूप में) ग्रहण (स्वीकार) करके उसने उन्हें 'हे पुत्रो' यह कहकर सम्बोधित किया।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

अनु०—नाराज (क्रोधयुक्त) हुए उन्होंने उस अर्थ (अर्थात् उनके लिए किए गए पुत्र शब्द के प्रयोग के कारण) को देवताओं से पूछा और देवताओं ने मिलकर (एक मत होकर, समेत्य) उनसे कहा—"तुमसे बालक ने ठीक कहा है।"

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

अन०—(ज्ञान-हीन बालक और ज्ञान-दाता पिता होता है)-(देवताओं ने कहा) ज्ञान से रहित (व्यक्ति) बालक होता है और वेद के ज्ञान को देने वाला (मन्त्रदः) पिता होता है, क्योंकि (ऋषियों ने) ज्ञान से रहित (व्यक्ति) को बालक और वेद-ज्ञान देने वाले को (मन्त्रदाता को, वेदमन्त्रों का उपदेश करने वाले को) पिता कहा है।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥

अनु०—(आयु इत्यादि की अपेक्षा ज्ञान से श्रेष्ठता)-न वर्षों से (हायनैः) (अधिक वर्षों की आयु होने से), न श्वेत (पके हुए) बालों से (पलितैः),

न (अधिक) धन से, न (अधिक) वन्धुओं से (कोई पुरुष बड़ा होता है)। ऋषियों ने यह नियम (निर्णय, धर्म) बनाया (किया) है—जो वेदवेदाङ्ग का पारंगत विद्वान् (अनूचान) है वही हम लोगों में वड़ा है।

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

अनु०—श्रेष्ठता का आधार)—ब्राह्मणों की (अथवा ब्राह्मणों में) ज्ञान (विद्या) से, क्षत्रियों में पराक्रम से, वैश्यों में धनधान्य से श्रेष्ठता (बड़प्पन) होती है। केवल शूद्रों में ही आयु (जन्म से) (श्रेष्ठता का निर्णय किया जाता है)।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

अनु०—(वाल पक जाने मात्र से कोई वृद्ध नहीं होता)—इससे (कोई मनुष्य) वड़ा (वृद्ध) नहीं हो जाता कि उसके सिर के वाल सफेद हो गए हैं (अर्थात् वाल पक जाने मात्र से कोई वड़ा नहीं हो जाता)। युवा (अवस्था में कम) होने पर भी जो (पुरुष) विद्या में अधिक है उसे देवता वृद्ध (वड़ा, स्थविरं) कहते हैं।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

अनु०—(मूर्ख ब्राह्मण की निन्दा)—जो ब्राह्मण वेदाध्ययनशून्य (वेद के अध्ययन से रहित) है वह (वैसा ही निष्फल है) जैसा (निष्फल) काठ का बना हुआ हाथी और जैसा (निष्फल) चमड़े का वना हुआ मृग होता है। ये तीनों केवल नाम धारण करते हैं (अर्थात् ये नाममात्र के हाथी, मृग और ब्राह्मण होते हैं)।

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

अनु०—जिस प्रकार स्त्रियों में नपुंसक निष्फल है, जिस प्रकार गायों में गाय निष्फल है और जिस प्रकार मूर्ख (अज्ञानी) में (अर्थात् मूर्ख को दिया गया) दान निष्फल है, उसी प्रकार वेद के ज्ञान से शून्य (वेद को न पढ़ा हुआ; ऋचा = वेदमन्त्र) ब्राह्मण निष्फल है।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

अनु०—(शिष्यों से मधुर व्यवहार)—धर्म की इच्छा करने वाले (= धर्माभिलाषी आचार्य) को अहिंसा (अल्पतम ताड़न) के द्वारा ही शिष्यों (प्राणियों भूतानां) को उनके कल्याण (श्रेयः) के लिए उपदेश (शिक्षा, अनुशासनम्) करना चाहिए और मधुर तथा कोमल (श्लक्ष्णा) वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

अनु०—(वचन और मन की शुद्धता एवं संयम से वेदान्त के फल की प्राप्ति)—जिस (मनुष्य) के वचन (वाणी) और मन सर्वदा शुद्ध (पवित्र) और अच्छी प्रकार से वशीभूत (वश में रहने वाले) हैं, वह वेदान्त में कहे गये (प्रतिपादित) समस्त फल को प्राप्त करता है।

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

अनु०—(दूसरों को कष्ट देने का निषेध)—(मनुष्य स्वयं) दुःखित (आर्त) होते हुए भी दूसरों के हृदय को दुःख देने वाला (मर्मभेत्ता) न होवे तथा दूसरों का अपकार (द्रोह) करने वाली बुद्धि वाला न होवे (अर्थात् दूसरों का अपकार करने का विचार न करे)। इस (मनुष्य) की जिस वाणी से (किसी को) उद्वेग (भय, दुःख) हो उस अमङ्गलकारिणी (स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाली, (अलोक्यां) वाणी को न बोले (कहे)।

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत् विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

अनु०—(सम्मान से डर और अपमान की आकांक्षा)—ब्राह्मण को प्रतिदिन विष के समान सम्मान से डरना चाहिए और अमृत के समान अपमान की सर्वदा आकांक्षा करनी चाहिए ।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्ध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अनु०—(अपमान सहन करने का कारण)—क्योंकि अपमान सह लेने वाला (अर्थात् जिसका अपमान किया गया है वह व्यक्ति) सुख से सोता है, सुख से जागता है और इस संसार में सुख से विचरण करता है, किन्तु अपमान करने वाला नष्ट हो जाता है ।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

अनु०—(तप का संचय)—क्रमपूर्वक अनुष्ठित (अनुष्ठान किए गए) इस संस्कार समूह से (अर्थात् पूर्वोक्त संस्कारों से) संस्कृत (पवित्रीकृत) आत्मा वाला द्विज गुरु के समीप रहता हुआ (अर्थात् गुरुकुल में निवास करता हुआ) वेद (ब्रह्म) के ग्रहण (प्राप्ति, अधिगम) के लिए धीरे-धीरे तप का सञ्चय (संग्रह) करे ।

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

अनु०—(उपनिषद के सहित सम्पूर्ण वेद का अध्ययन)—द्विज को शास्त्रोक्त (शास्त्र में कहे गये) तपविशेषों और अनेक प्रकार के नियमों के साथ उपनिषद के सहित सम्पूर्ण वेद को पढ़ना चाहिए ।

वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

अनु०—(वेदाभ्यास की श्रेष्ठता)-ब्राह्मण (द्विजश्रेष्ठ, द्विजोत्तम) तपस्या करता हुआ सर्वदा वेद का ही अभ्यास करे, क्योंकि इस संसार में ब्राह्मण के लिए वेद का अभ्यास उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) तप कहा जाता है।

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ १६७ ॥

अनु०(वेदाध्ययन की प्रशंसा)-जो द्विज (ब्रह्मचर्याश्रम में निषिद्ध) पुष्पमाला को धारण करने वाला होने पर भी (अर्थात् पुष्पमाला धारण करता हुआ भी, स्रग्वी अपि; स्रग् = माला) अपनी शक्ति के अनुसार (शक्तितः) प्रतिदिन (अन्वहम्) वेद (स्वाध्यायं) का अध्ययन करता है (अधीते), वह (सिर से लेकर) नख के अग्र भाग तक (सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त, सर्वदेह-व्यापी) बहुत बड़ा (उत्कृष्ट) तप करता है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

अनु०—(वेदाध्ययन के विना द्विज का शूद्र हो जाना)—जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्यत्र (अर्थात् अर्थशास्त्र आदि अन्य विषयों में) परिश्रम करता है, वह जीता हुआ (जीवित रहता हुआ) भी वंशसहित (पुत्रपौत्रादि के सहित) शूद्रत्व को प्राप्त करता है।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

अनु०—(द्विजत्व का निरूपण)—वेद की आज्ञानुसार (श्रुतिचोदनात्) द्विज का पहला जन्म माता से, दूसरा (जन्म) यज्ञोपवीत संस्कार से और तीसरा (जन्म) यज्ञ की दीक्षा लेने पर होता है।

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

अनु०—(द्वितीय जन्म के माता-पिता)—वहाँ (= उन तीन जन्मों में, तत्र) जो इसका यज्ञोपवीत चिह्न वाला वेद (ब्रह्म) के ग्रहण के लिए (द्वितीय) जन्म है, वहाँ (= उसमें) सावित्री इस (द्विज) की माता और आचार्य इसका पिता कहा जाता है ।

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ॥ १७१ ॥

अनु०—(आचार्य के पितृत्व का कारण)—(मनु आदि महर्षि) वेद का ज्ञान देने से (अर्थात् वेदाध्ययन कराने के कारण) आचार्य को पिता कहते हैं (प्रचक्षते), क्योंकि (हि) यज्ञोपवीत संस्कार (मौञ्जीबन्धन) से पहले इसे (= बालक को) कोई (श्रौत अथवा स्मार्त) कर्म करने का अधिकार नहीं है ।

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

अनु०—(उपनयन संस्कार के बिना वेद-पाठ का निषेध)—(यज्ञोपवीत होने से पहले) श्राद्धमन्त्रों के अतिरिक्त (अर्थात् श्राद्धमन्त्रों को छोड़कर, स्वधानिनयनात् ऋते; स्वधा = पितरों को दिया जाने वाला अन्न) वेद-मन्त्रों (ब्रह्म) का उच्चारण नहीं करना चाहिए (न अभिव्याहारयेत्); क्योंकि (हि) जब तक (यावत्) (मनुष्य उपनयन संस्कार के द्वारा) वेद में (अधिकारी नहीं होता तब तक (तावत्) शूद्र के समान होता है ।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

अनु०—(यज्ञोपवीत होने पर ही वेदाधिकार)—उपनयन संस्कार होने के अनन्तर ही (आचार्य के द्वारा सन्ध्योपासन आदि के) नियमों (व्रतों) का उपदेश (आदेश) तथा वेद (ब्रह्म) का ग्रहण (वेदाध्ययन) क्रमशः विधिपूर्वक अभीष्ट (इष्ट) है (यज्ञोपवीत होने से पहले ये अभीष्ट नहीं हैं) ।

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

अनु०—(पूर्वोक्त चर्म आदि का ही व्रतों में धारण)—जो चर्म, जो सूत्र, जो मेखला जो दण्ड और जो वस्त्र जिस (ब्राह्मण आदि) के लिए (उपनयन संस्कार के संदर्भ में) कहे गये हैं, वही उसके (गोदान आदि) व्रतों में भी होने चाहिए ।

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

अनु०—(तप की वृद्धि के लिए नियम-पालन)—ब्रह्मचारी को अपनी तपस्या को बढ़ाने के लिए गुरु के (समीप) रहते हुए (अर्थात् गुरुकुल में निवास करते हुए) इन्द्रिय-समूह को अच्छी प्रकार वश में करना चाहिए और इन (आगे कहे जाने वाले) नियमों का पालन करना चाहिए ।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

अनु०—(नित्य कर्म)–(ब्रह्मचारी को) प्रतिदिन स्नान करके शुद्ध होकर देवताओं, ऋषियों और पितरों का तर्पण (जलदान), देवताओं की पूजा और अग्नि में समिधा का हवन (होम) करना चाहिए ।

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी द्वारा त्याज्य कर्म)—मधु (शहद), मांस, सुगन्धित पदार्थ, (फूलों की) माला, (गन्ना आदि का) रस, स्त्री, वे सभी पदार्थ जो विकार के कारण खट्टे हो गए हैं तथा जीवों (प्राणियों) की हिंसा—इन्हें (ब्रह्मचारी को) छोड़ देना चाहिए ।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

अनु०—(तेलादि से) शरीर की मालिश (मर्दन), आँखों में काजल लगाना, जूता और छाता धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नाचना और गाना-बजाना (इन्हें ब्रह्मचारी को नहीं करना चाहिए) ।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

अनु० - जूआ खेलना, झगड़ा करना (वाक्कलह) (दूसरों की) निन्दा करना, झूठ बोलना (असत्यभाषण), स्त्रियों को (अनुराग से) देखना और उनका आलिङ्गन करना तथा दूसरों का अपकार (हानि) करना (इन्हें ब्रह्मचारी को नहीं करना चाहिए) ।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

अनु०—(इच्छा से वीर्यपात का निषेध)–(ब्रह्मचारी) सर्वत्र अकेला शयन करे (अकेला ही सोवे), कहीं भी वीर्य को (रेतः) न गिरावे (न स्कन्दयेत्), क्योंकि (हि) इच्छा से वीर्य को गिराता हुआ (वीर्यपात करता हुआ) (ब्रह्मचारी) अपने व्रत का विनाश करता है (अपने व्रत से भ्रष्ट हो जाता है ।)

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिःपुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

अनु०—(स्वप्नदोष हो जाने पर प्रायश्चित)–बिना इच्छा के स्वप्न में वीर्य (शुक्रम्) को गिरा कर (अर्थात् वीर्य के गिर जाने पर, स्वप्नदोष हो जाने पर) ब्रह्मचारी द्विज स्नान करके और सूर्य की (अर्कम्) पूजा करके (अर्चयित्वा) तीन बार 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इस ऋचा का जप करे ।

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

अनु०—(आचार्य के लिए जलादि लाना)—पानी का घड़ा, पुष्प (फूल, सुमनसः), गोबर (गोशकृत्), मिट्टी तथा कुशा—इनको जितना (यावत्) प्रयोजन (अर्थं) हो उतना लावे (आहरेत्) (अर्थात् ब्रह्मचारी इन पदार्थों को आचार्य की आवश्यकता के अनुसार लावे) और प्रतिदिन (अहरहः) भिक्षा माँगे ।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

अनु०—(भिक्षा माँगने योग्य घर)—ब्रह्मचारी को प्रतिदिन पवित्र होकर (प्रयतः) वेदाध्ययन तथा यज्ञों को करने वाले (वेदाध्ययन तथा यज्ञों से जो रहित नहीं हैं उनके) और (वर्णानुसार) अपने कार्यों में प्रकृष्ट रूप से लगे हुए (अपने-अपने कार्यों में दक्ष) लोगों के घरों से भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए (भिक्षा माँगनी चाहिए) ।

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

अनु०—(गुरु के कुल इत्यादि में भिक्षा माँगने का निषेध)—गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में, अपने कुल में, अपने बान्धवों (मामा आदि) में भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए । इनसे अन्य घरों के न मिलने पर पूर्व-पूर्व का त्याग करे (अर्थात् अन्य योग्य घरों के न मिलने पर बान्धवों में, बांधव भी न मिलने पर अपने कुल में, कुल के न मिलने पर अपनी जाति में, जाति के न मिलने पर गुरु के कुल में भिक्षा माँगनी चाहिए) ।

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

अनु०—(पूरे गाँव में भिक्षा माँगना)—अथवा पूर्वोक्त (योग्य घरों) के अभाव में पवित्र होकर और वाणी को रोक कर (अर्थात् मौन होकर, वाचं नियम्य) पूरे गाँव में भिक्षा माँगनी चाहिए किन्तु महापातकियों को (अभि-

शस्तान्) छोड़ देना चाहिए (अर्थात् महापातक से युक्त पापियों के घर में कभी भी भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए) ।

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

अनु०—(समिधा का ग्रहण तथा अग्नि में हवन)—दूर से लकड़ी को (समिधः) लाकर खुले स्थान में (आकाश में, विहायसि) रखना चाहिए तथा आलस्यहीन होकर सुबह और शाम को उससे अग्नि में हवन करना चाहिए ।

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

अनु०—(अवकीर्णि व्रत का विधान)—नीरोग रहता हुआ (अनातुरः) (भी ब्रह्मचारी) यदि सात रात (दिन) तक भिक्षा-याचना न करे और अग्नि में हवन न करे तो उसे (प्रायश्चित के रूप में) 'अवकीर्णि' व्रत करना चाहिए ।

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद् व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

अनु०—(भिक्षान्न का ही भक्षण)—ब्रह्मचारी को (व्रती) नित्य भिक्षा से निर्वाह करना चाहिए, (किसी) एक (मनुष्य) के अन्न को खाने वाला नहीं होना चाहिए । ब्रह्मचारी का भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह (वृत्तिः) उपवास के समान कहा गया है ।

व्रतवद् देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयात् व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

अनु०—(पूर्वोक्त का अपवाद)—(यजमान के द्वारा) निमन्त्रित होने पर (अभ्यर्थितः) ब्रह्मचारी को (यागादि) देव-कर्म में (ब्रह्मचर्य) व्रत के योग्य (ब्रह्मचर्य व्रत के अविरुद्ध) (अर्थात् मधुमांसादि से वर्जित) और (श्राद्धादि) पितृ-कर्म में ऋषितुल्य (अर्थात् मधुमांसादि से वर्जित) यथेष्ट (इच्छापूर्वक,

कामम्) भोजन करना चाहिए। इससे इस (ब्रह्मचारी) का व्रत लुप्त (नष्ट) नहीं होता है।

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

अनु०—(उपर्युक्त अपवाद केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए)–विद्वानों ने यह कर्म (याग और श्राद्ध में एक मनुष्य के अन्न का भोजन) ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) के लिए ही कहा है। क्षत्रिय और वैश्य (ब्रह्मचारी) के लिए तो यह कर्म नहीं कहा गया है।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

अनु०—(अध्ययन तथा आचार्य-हित में प्रयत्न)–गुरु (आचार्य) के द्वारा प्रेरित होने पर अथवा प्रेरित न होने पर भी (अर्थात् गुरु कहे अथवा न भी कहे) (ब्रह्मचारी) अध्ययन (पढ़ने) में और आचार्य के हित में (आचार्य के हितकारक कार्यों में) नित्य (सर्वदा) यत्न करे (प्रयत्न करता रहे)।

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेदीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

अनु०—(गुरु की आज्ञा का पालन)–(कहीं से आने पर ब्रह्मचारी को) शरीर, वाणी (वचन), ज्ञानेन्द्रिय (बुद्धीन्द्रिय) और मन को वश (नियन्त्रण) में करके हाथ जोड़कर गुरु के मुख को देखते हुए (ईक्षमाणः) (गुरु के आदेश के लिए) खड़े रहना चाहिए।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी) सर्वदा (नित्य) उत्तरीय (दुपट्टे,ओढ़ने के वस्त्र) से हाथ को बाहर रखे, अच्छा आचरण (शिष्टाचार) करे, अपनी इन्द्रियों को

पूर्ण रूप से वश (नियन्त्रण) में रखे और जब गुरु कहें "बैठ जाओ" तब गुरु के सम्मुख बैठे।

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

अनु०—(गुरु से न्यूनता में रहना)–गुरु के समीप (अर्थात् गुरु की उपस्थिति में) (ब्रह्मचारी) (गुरु की अपेक्षा) हीन अन्न, वस्त्र और वेष वाला होवे (अर्थात् गुरु की अपेक्षा ब्रह्मचारी के अन्न, वस्त्र और वेष निम्न स्तर के होवें)। और इससे (= गुरु से) पहले उठे (अर्थात् गुरु के सोकर उठने से पहले उठे) और (गुरु के सोने के) बाद में सोवे।

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

अनु०—(आज्ञा-पालन का प्रकार)—(ब्रह्मचारी को स्वयं) न सोते हुए, न बैठे हुए, न खाते हुए, न खड़े हुए अथवा न पीछे मुंह करके (गुरु की आज्ञा को) सुनना अथवा उनसे वार्तालाप करना चाहिए।

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी को) बैठे हुए (गुरु) के सामने खड़े होकर, खड़े हुए (गुरु) के सामने जाकर, आते हुए (गुरु) के सामने आगे बढ़कर और दौड़ते हुए (अर्थात् वेग पूर्वक जाते हुए गुरु) के पीछे दौड़कर (उनकी आज्ञा को सुनना अथवा उनके साथ वार्तालाप करना चाहिए)।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी को) पराङ्मुख (अर्थात् मुंह फेरे हुए) (गुरु) के सामने जाकर,) दूर में स्थित (गुरु) के समीप जाकर, सोये (लेटे हुए)

और निकट (समीप) में (निदेशे) स्थित (गुरु) को प्रणाम करके (उनकी आज्ञा को सुनना अथवा उनके साथ वार्तालाप करना चाहिए) ।

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

अनु० - (गुरु की अपेक्षा नीचा शय्यासन)—गुरु के समीप इस (शिष्य) की शय्या (पलंग) और आसन (गुरु की अपेक्षा) नीचे (होने चाहिए) । गुरु की आँखों के सामने इसे मनमाने आसन पर बैठने वाला नहीं होना चाहिए (अथवा मनमाने ढंग से आसन पर नहीं बैठना चाहिए) ।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

अनु०—(गुरु के नामग्रहण और अनुकरण का निषेध)—(ब्रह्मचारी को) (गुरु के) परोक्ष में भी (पीछे भी) उनके केवल (= उपाध्याय, आचार्य इत्यादि उत्तम उपाधियों से रहित) नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए (न उदाहरेत्); और उनके (= गुरु के) चलने (गमन, चाल) बोलने (भाषण) तथा चेष्टा का (उपहास के रूप में) अनुकरण नहीं करना चाहिए ।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

अनु०—(गुरु की निन्दा सुनने का निषेध)—जहाँ पर गुरु की बुराई (गुरु में विद्यमान दोषों का कथन) अथवा निन्दा (गुरु में अविद्यमान दोषों का कथन) हो रही हो (की जा रही हो), वहाँ (ब्रह्मचारी को, शिष्य को) (अङ्गुलियों आदि से) अपने कानों को बन्द कर लेना चाहिए अथवा वहाँ से (उस स्थान से) अन्यत्र चले जाना चाहिए ।

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

अनु०—(गुरु की बुराई आदि करने का फल)—(गुरु की) बुराई करने (विद्यमान दोषों के कथन) से (शिष्य मरने के बाद दूसरी योनि में) गधा (खरः) होता है, निन्दा करने (अविद्यमान दोषों के कथन) से कुत्ता (श्वा) होता है, (गुरु के) धन का भोग करने से सूक्ष्म कीट (कृमि) होता है, (गुरु से) ईर्ष्या (डाह) करने से (अर्थात् गुरु की उन्नति को देखकर अन्दर अन्दर जलने से) स्थूल कीट होता है।

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

अनु०—(गुरु की अर्चना की विधि)—(शिष्य) दूर रहकर, क्रुद्ध होकर और स्त्री के पास बैठा हुआ इनकी (= गुरु की) पूजा न करे। यदि (शिष्य) किसी सवारी (रथ, गाड़ी आदि) पर अथवा आसन पर बैठा हुआ हो तो उतर कर इन्हें (= गुरु को) प्रणाम करे।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैनं गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

अनु०—(गुरु के साथ कहाँ न बैठे)—प्रतिवात (प्रतिकूल वायु-गुरु की ओर से शिष्य की ओर आने वाली वायु) तथा अनुवात (अनुकूल वायु-शिष्य की ओर से गुरु की ओर आने वाली वायु) में (शिष्य) गुरु के साथ न बैठे (तात्पर्य यह है कि उस स्थान पर न बैठे जहाँ पर गुरु की ओर से सीधी हवा आती हो अथवा जहाँ से गुरु के पास सीधी हवा जाती हो। उस स्थान पर बैठे जहाँ हवा तिरछी आती-जाती हो)। जहाँ से ये (= गुरु) न सुन सकें, उतनी दूर से कोई बात न कहे।

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

अनु०—बैलगाड़ी आदि पर गुरु के साथ बैठने का (विधान) बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊँटगाड़ी, महल (प्रासाद), (यज्ञशाला में) कुशा के बिछौने

(प्रस्तर) पर और चटाई (कट) पर तथा पत्थर (शिला), लकड़ी के तख्ते (चौकी, फलक) और नाव पर (शिष्य) गुरु के साथ बैठे (= बैठ सकता है) ।

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

अनु०—(गुरु के समान व्यवहार के योग्य)–गुरु के गुरु पास में आ जायें तो (उनके साथ) गुरु के समान आचरण करना चाहिए । गुरु से आज्ञा लिए बिना अपने माता पिता इत्यादि गुरुजनों को भी प्रणाम (अभिवादन) नहीं करना चाहिये ।

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान् हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

अनु०—विद्या पढ़ाने वाले (अर्थात् गुरु से अन्य उपाध्याय आदि) में, अपने वंश वाले (ज्येष्ठ भ्राता, चाचा आदि) में, अधर्म का निषेध करने वालों में तथा हित (कल्याण) का उपदेश देने वालों में प्रतिदिन यही (= पूर्वोक्त गुरुवत्) व्यवहार करना चाहिए ।

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

अनु०—अपने से बड़े (= श्रेष्ठ) लोगों में, गुरु के पुत्रों में, सज्जनों (आर्यों) में और गुरु के अपने बन्धु-बान्धवों में (शिष्य को) सर्वदा गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए ।

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

अनु०—गुरु का पुत्र (अवस्था में) छोटा हो अथवा समान अवस्था वाला

हो अथवा यज्ञ-कर्म में शिष्य भी हो, यदि वह (वेद का) अध्यापन करता है तो वह गुरु के समान सम्मान प्राप्त करने योग्य है।

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

अनु०—(गुरु के पुत्र को तेल लगाने इत्यादि का निषेध)-गुरु के पुत्र के शरीर में (तेल इत्यादि द्वारा) उबटन लगाना, स्नान कराना, जूठा भोजन खाना और पाद-प्रक्षालन (पैर धोना) नहीं करना चाहिए।

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।
असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

अनु०—(गुरु की पत्नियों के साथ व्यवहार)-गुरु की सवर्ण (समान जाति वाली) पत्नियाँ गुरु के समान ही पूज्य होती है। असवर्ण (असमान जाति वाली) पत्नियाँ तो केवल अभ्युत्थान और प्रणाम से (= उठकर प्रणाम करने से) ही पूज्य होती है।

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

अनु०—(गुरु की पत्नी के तैलमर्दन आदि का निषेध)-गुरु की पत्नी की तेल से मालिश करनी (तैलमर्दन), स्नान कराना, अङ्गों पर उबटन लगाना और केशों (बालों) का प्रसाधन (बाल संवारना, पुष्प आदि से सजाना) नहीं करना चाहिए।

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

अनु०—(युवती गुरुपत्नी के चरणस्पर्श का निषेध)-बीस वर्ष की अवस्था वाला (=जिसके बीस वर्ष पूरे हो गए है वह तरुण) (शिष्य) इस संसार में (इह) (स्त्री के) गुण तथा दोषों को जानता हुआ युवती गुरुपत्नी के चरणों को छूकर प्रणाम न करे (अर्थात् अलग रहते हुए मस्तक झुकाकर प्रणाम करे)।

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

अनु०—(उपर्युक्त निषेध का कारण)–इस संसार में पुरुषों को कलङ्कित करना (पुरुषों के धैर्य को विनष्ट करना, पुरुषों को पथभ्रष्ट करना)–यह स्त्रियों का स्वभाव है। इस कारण से विद्वान् (विपश्चितः) स्त्रियों (के विषय) में असावधान नहीं रहते (उनसे अलग ही रहते हैं)।

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

अनु०—क्योंकि स्त्रियाँ काम–क्रोध के वश में रहने वाले मूर्ख अथवा विद्वान् को भी कुमार्ग पर ले जाने के लिए समर्थ होती हैं।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

अनु०—(एकान्तवास का निषेध)–(पुरुष को) (युवती) माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी एकान्त (विविक्त) में नहीं रहना चाहिए। शक्तिशाली (बलवान्) इन्द्रिय-समूह विद्वान् को भी वश में कर लेता है (पाप में खींच लेता है)।

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

अनु०—(युवती गुरुपत्नी को प्रणाम करने की विधि)–युवक (शिष्य) युवती गुरुपत्नी को "मैं अमुक व्यक्ति हूँ" यह कहता हुआ पृथ्वी पर (झुककर) विधिपूर्वक (शास्त्र की रीति के अनुसार) प्रणाम (वन्दनं) करे (पैर छूकर नहीं)।

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

अनु०—सज्जनों के धर्म (= शिष्टाचार) को जानने वाले (शिष्य) को प्रवास (परदेश) से लौटकर (आकर) गुरु की पत्नी के पैरों को छूकर और प्रतिदिन (पूर्वोक्त विधि से बिना पैर छूकर) प्रणाम करना चाहिए ।

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

अनु०—(गुरु की सेवा का फल)-जिस प्रकार फावड़े (कुदाल, खनित्र) से (भूमि को) खोदता हुआ मनुष्य पानी को (वारि) प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरु-सेवा करने वाला शिष्य (अपनी सेवा के बल से) गुरु में रहने वाली विद्या को प्राप्त करता है ।

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥ २१९ ॥

अनु०—(रात्रि में ग्रामवास निषेध)-ब्रह्मचारी चाहे मूड़ मुड़ाये हो अथवा जटा रखाये हो, अथवा शिखा की ही जटा बनाये हो, उसको ग्राम में कभी भी न सूर्य अस्त हो और न उदय हो (तात्पर्य यह है कि वह सूर्योदय से पहले ग्राम में न जाये और सूर्यास्त के पश्चात् ग्राम में न रहे) ।

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानः कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

अनु०—(सोते हुए सूर्योदय या सूर्यास्त होने पर प्रायश्चित्त)—यदि इच्छापूर्वक (कामचारतः) उस (ब्रह्मचारी) के सोते हुए सूर्य का उदय हो जाय अथवा न जाने (सोते हुए) सूर्यास्त हो जाय तो (सावित्री का) जप करता हुआ दिन में उपवास करे ।

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

अनु०—(प्रायश्चित न करने से दोष)–क्योंकि जो सोता हुआ सूर्य के द्वारा छोड़ दिया जाता है (अर्थात् जिसे सोता हुआ छोड़कर सूर्य अस्त हो जाता है) अथवा (जिसके सोते रहने पर) सूर्य का उदय हो जाता है, वह प्रायश्चित को न करता हुआ बहुत बड़े पाप से युक्त हो जाता है ।

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

अनु०—(सन्ध्योपासन की अवश्यकर्तव्यता)–प्रतिदिन दोनों (प्रातः और सायं) सन्ध्याओं में आचमन करके पवित्र होकर सावधान (एकाग्रचित्त) (ब्रह्मचारी) को पवित्र स्थान में (ओङ्कार और व्याहृतियों सहित सावित्री के) जप को जपते हुए शास्त्रानुसार (सूर्य की) उपासना करनी चाहिए ।

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

अनु०—(स्त्री और शूद्र भी सावधान होकर अपने कार्यों को करें)–स्त्री अथवा शूद्र (अवरजः) भी जिस किसी अच्छे कार्य (श्रेयः) को करते हों उसे तथा जहाँ (= जिस कार्य में) इनका (= स्त्री और शूद्र का) मन लगे उस सबको सावधान होकर (= ध्यानपूर्वक) करना चाहिए ।

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

अनु०—(त्रिवर्ग के कल्याणकारक होने का विधान)–इस संसार में (इह) (कतिपय आचार्यों के द्वारा) धर्म और अर्थ को कल्याणकारक (श्रेयः) बतलाया (कहा) जाता है, (कतिपय आचार्यों के द्वारा) काम और अर्थ को और (कतिपय आचार्यों के द्वारा) केवल धर्म को ही (कल्याण-

कारक कहा जाता है) तथा (कतिपय आचार्यों के मत में) अर्थ ही कल्याण-कारक है। किन्तु त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम ये तीनों) ही कल्याणकारक हैं—यह वस्तुस्थिति है (यह निश्चय है)।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२५ ॥

अनु०—(आचार्य इत्यादि के अपमान का निषेध)–(स्वयं) दुःखित (दुःखी) होने पर भी मनुष्य को आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई का अपमान नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण को तो विशेष रूप से (इनका अपमान कदापि नहीं करना चाहिए)।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२६ ॥

अनु०—(आचार्य आदि की महत्ता)–आचार्य परमात्मा का रूप, पिता प्रजापति का रूप, माता पृथिवी का रूप और सगा भाई तो अपना ही रूप है (अतः इनका कदापि अपमान नहीं करना चाहिए)।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

अनु०—(माता-पिता के कष्ट का बदला नहीं चुकाया जा सकता)–मनुष्यों के उत्पन्न होने में (गर्भ-धारण, प्रसववेदना, पालन पोषण, संस्कार; पढ़ाने लिखाने में) माता–पिता जिस कष्ट को (क्लेशं) सहन करते हैं, उसका बदला (प्रत्युपकार) सैकड़ों वर्षों में भी (अर्थात् अनेक जन्मों भी) नहीं चुकाया जा सकता।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

अनु०—(सभी तपों की पूर्णता)—उन दोनों (माता और पिता) का प्रतिदिन तथा आचार्य का सर्वदा प्रिय करना चाहिए। उन तीनों (माता, पिता और आचार्य) के संतुष्ट (प्रसन्न) होने पर सब तप समाप्त (पूरा) हो जाता है (अर्थात् सब तपों में पूर्ण होने से जो फल प्राप्त होता है, वह फल माता, पिता और आचार्य) के संतुष्ट होने से प्राप्त हो जाता है)।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥ २२९॥

अनु०—(सबसे बड़ा तप)—उन तीनों (माता, पिता और आचार्य) की सेवा ही सबसे बड़ा तप (तपस्या) कहा जाता है, उनकी आज्ञा के बिना अन्य (तीर्थ, व्रत इत्यादि) धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥ २३०॥ 1835

अनु०—(माता, पिता और आचार्य की महत्ता)—क्योंकि वे तीनों (माता, पिता और आचार्य) ही तीनों लोक (भूः, भुवः और स्वः), वे तीनों ही तीन आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ), वे तीनों ही तीनों वेद (ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद), वे तीनों ही तीनों अग्नि (गार्हपत्य, दक्षिण और आहवनीय) कहे गये हैं (अतः माता, पिता और गुरु की सेवा से तीनों लोकों की प्राप्ति हो जाती है; उसी प्रकार तीनों आश्रमों का फल, तीनों वेदों के अध्ययन का फल और तीनों अग्नियों में किये जाने वाले कर्मों का फल प्राप्त हो जाता है)।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥ २३१॥

अनु०—पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिण अग्नि (दक्षिणाग्नि) और गुरु आहवनीय (अग्नि) कही गई है। ये तीनों अग्नियाँ (=माता, पिता और आचार्य) अत्यन्त श्रेष्ठ हैं।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ ॥

अनु०—(माता, पिता और आचार्य की सेवा का फल)—गृहस्थ इन तीनों (की सेवा) में आलस्य को न करता हुआ (अप्रमाद्यन्) तीनों लोकों को जीत लेता है। अपने शरीर से देदीप्यमान होता हुआ (चमकता हुआ) वह देवता के समान स्वर्ग लोक में आनन्द करता है।

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

अनु०—(तीनों की सेवा से तीनों लोकों की प्राप्ति)—(मनुष्य) माता की भक्ति से इस लोक (= पृथिवी लोक) को पिता की भक्ति से मध्यम (= अन्तरिक्ष) लोक को और गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

अनु०—(इनके अनादर से सभी क्रियाओं की निष्फलता)—जिसने इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) का आदर किया, उसने सब धर्मों का आदर किया (अतः सब धर्म उसको फल देते हैं), जिसने इन तीनों का अनादर किया उसकी सभी क्रियायें निष्फल होती हैं।

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

अनु०—(तीनों की सेवा का प्राधान्य) जब तक वे तीनों (माता, पिता और आचार्य) जीवित रहें तब तक (उनकी आज्ञा के बिना) दूसरा (धर्म) नहीं करना चाहिए। प्रतिदिन उनके प्रिय और भलाई (हित) में लगा हुआ उनकी ही सेवा करे।

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

अनु०—उन (माता, पिता और आचार्य) की सेवा के अविरुद्ध उनकी आज्ञा से मन, वचन और कर्म के द्वारा जो-जो भी पारलौकिक कार्य (पारत्र्यं) करे उस–उस को उनके लिए अर्पित कर देना चाहिए ।

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

अनु०—क्योंकि इन तीनों (की सेवा करने) पर मनुष्य के सम्पूर्ण कृत्य समाप्त (पूरे, सफल) हो जाते हैं । यही (= माता; पिता और आचार्य की सेवा) साक्षात् परम (श्रेष्ठ) धर्म है । इससे अन्य (सब धर्म) उपधर्म (गौण धर्म) कहा जाता है ।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

अनु०—(विद्या इत्यादि की ग्राह्यता)–नीच (अवर) से भी श्रद्धा-पूर्वक अच्छी विद्या को, चाण्डाल (अन्त्य) से भी श्रेष्ठ धर्म को और नीच परिवार से भी स्त्री रूपी रत्न को ले लेना चाहिए ।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

अनु०—(अमृत इत्यादि की ग्राह्यता)–विष से भी अमृत को, बालक से भी सुन्दर वचन को, शत्रु से भी सदाचार को और अशुद्ध (अपवित्र, अमेध्य) स्थान से भी सोना (सुवर्ण) ले लेना चाहिए ।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥

अनु०—(स्त्री इत्यादि की ग्राह्यता)—स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता, सुन्दर वचन, और अनेक प्रकार की कारीगरी (शिल्प)—इनको सभी लोगों से ले लेना चाहिए।

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

अनु०—(आपत्तिकाल में ब्राह्मणेतर से भी विद्याध्ययन)—(यदि ब्राह्मण गुरु न मिल सके तो इस) आपत्ति के समय में अब्राह्मण (क्षत्रिय इत्यादि से भी पढ़ने (अध्ययन करने) के लिए कहा गया है। किन्तु जब तक अध्ययन करे तभी तक उस (अब्राह्मण) गुरु का अनुगमन और सेवा करे।

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

अनु०—(अब्राह्मण तथा अविद्वान् के यहाँ आत्यन्तिक वास का निषेध)—उत्तम (मोक्ष रूप) गति चाहने वाले शिष्य को अब्राह्मण (ब्राह्मणेतर) गुरु के पास और वेद को न जानने वाले ब्राह्मण गुरु के पास आत्यन्तिक वास (जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में रहना) नहीं करना चाहिए।

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

अनु०—(आत्यन्तिक वास का विधान)—यदि गुरु के कुल में जीवन-पर्यन्त (नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में) वास (निवास) करना चाहे तो शरीर के छूटने तक (मरण—पर्यन्त) सावधान होकर (युक्त) इनकी (= गुरु की) परिचर्या (सेवा) करे।

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

अनु०—(गुरु सेवा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति)–जो शरीर की समाप्ति तक गुरु की सेवा करता है, वह ब्राह्मण सीधे (अक्लिष्ट) मार्ग से (अञ्जसा) ब्रह्म के विनाशरहित (नित्य) शाश्वत स्थान (= ब्रह्मलोक) को जाता है (प्राप्त करता है)।

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

अनु०—(गुरुदक्षिणा का विधान)–धर्मवेत्ता (ब्रह्मचारी) पहले (अध्ययनकाल में) गुरु को (दक्षिणा के रूप में) कुछ भी न दे। गुरु से आज्ञा पाकर स्नान करते समय (समावर्तन संस्कार के समय; स्नास्यन्) यथाशक्ति गुरुदक्षिणा लावे (गुरुदक्षिणा प्रदान करे)।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

अनु०—(गुरुदक्षिणा में देय पदार्थ)–(गुरुदक्षिणा में) भूमि, सोना (सुवर्ण), गाय, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, अन्न, शाक और वस्त्र गुरु को देकर उन्हें प्रसन्न करना चाहिए।

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

अनु०—(गुरु के पुत्र इत्यादि में गुरु के समान व्यवहार)–गुरु के मर जाने पर (नैष्ठिक ब्रह्मचारी को) गुरु के गुणयुक्त पुत्र में, (उसके न होने पर) गुरु की पत्नी में और (उसके भी न होने पर) सपिण्ड (सात पीढ़ी तक के परिवार) में गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए।

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

अनु०—(गुरुपुत्र आदि के न रहने पर कर्तव्य)–इन (गुरु पुत्रादि) के न रहने पर (गुरु की अग्नि के पास ही) स्नान, आसन, विहार और अग्नि की सेवा करता हुआ अपने शरीर को (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) साधे (ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनावे)।

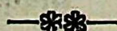
एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

अनु०—(उपर्युक्त कर्तव्य का फल)–जो ब्राह्मण (अपने नियम से) विचलित न होकर इस प्रकार (नैष्ठिक) ब्रह्मचर्य का आचरण (पालन) करता है, वह उत्तम स्थान को जाता है और पुनः इस संसार में (इह) जन्म नहीं लेता है।

इति मनुस्मृतौ द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः ।



द्वितीय अध्याय में प्रतिपादित मुख्य विषय (क्रमशः)—धर्म का सामान्य स्वरूप, कर्म-फल की इच्छा, इच्छा आदि की सङ्कल्पमूलकता, क्रिया की कामसापेक्षता, धर्म के प्रमाण, धर्म की वेदमूलकता, कर्तव्य धर्म का निर्णय, धर्म के अनुष्ठान का फल, श्रुति और स्मृति का परिचय, नास्तिक की निन्दा, धर्म का साक्षात् लक्षण, श्रुतिद्वय के विरोध में दोनों की प्रामाणिकता, श्रुतिवाक्यों के विरोध का उदाहरण, धर्मशास्त्र का अधिकारी, ब्रह्मावर्त देश, सदाचार का लक्षण, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश, आर्यावर्त देश, यज्ञिय और म्लेच्छ देश, निवास करने योग्य देश, संस्कारों का फल, स्वाध्यायादि का फल, जातकर्म संस्कार, नामकरण संस्कार, निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार, चूडाकर्म संस्कार, उपनयन संस्कार, भोजन के प्रति श्रद्धा, आचमन, स्त्रियों का संस्कार, पढ़ाने योग्य शिष्य, वेदाध्ययन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, विषयों का परित्याग, सन्ध्योपासन, गुरु आदि का अभिवादन तथा सम्मान, आचार्य इत्यादि के लक्षण, ज्ञान की श्रेष्ठता, नित्य कर्म, माता, पिता और आचार्य की महत्ता, गुरुदक्षिणा ।




महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसंधान
तिथी
पु०सं० 1835
भारती पुस्तकालय

लेखक का अन्

१—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य	विस्तृ	
२—ऋग्वेद प्रातिशाख्य:	एक प	
३—शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य	विस्तृ	
४—कठोपनिषद्		
५—शिशुपालवध	प्रथम सर्ग	
६—किरातार्जुनीय	"	
७—शुकनासोपदेश		३.००
८—अलंकार-प्रकाश		१.५०
९—अभिज्ञानशाकुन्तलम्		१२.००

